1/50

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

(शाक्तदर्शनम्)

हिन्दी अनुवाद सहितम्



षट् त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहः

अर्थात्

(छत्तीस तत्त्वों का समुदाय)



पराप्रवेशिका

श्री मन्महामहेश्वराचार्यवर्य—श्री क्षेमराजाचार्यविरचिता



लेखक

श्री स्वामी जी महाराज

पीताम्बरा पीठ दतिया म.प्र.

31-3-72, शुक्रवार
नई दिल्ली

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

(शाक्तदर्शनम्)

हिन्दी अनुवाद सहितम्



षट् त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहः

अर्थात्

(छत्तीस तत्त्वों का समुदाय)



पराप्रवेशिका

श्री मन्महामहेश्वराचार्यवर्य–श्री क्षेमराजाचार्यविरचिता



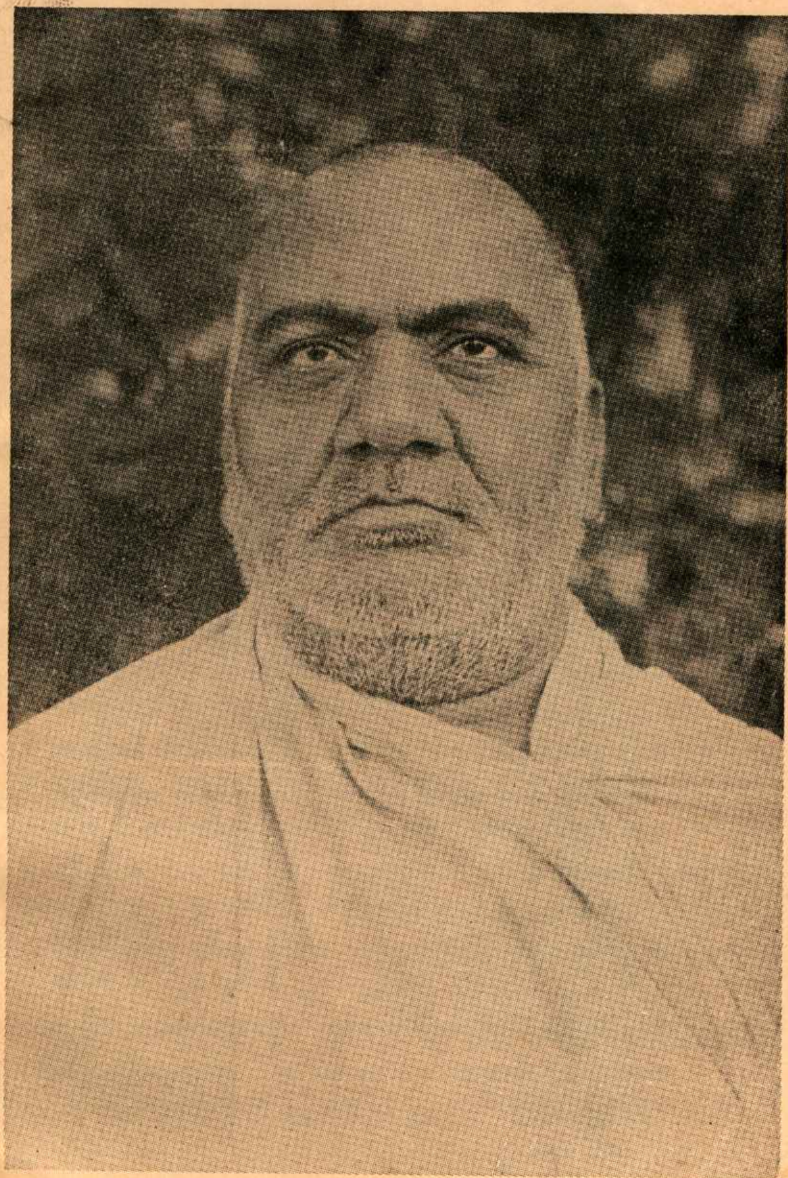
लेखक

श्री स्वामी जी महाराज

पीताम्बरा पीठ दतिया म. प्र.

प्रकाशक:—
श्री किशोरी शरण चउदा
सेवक पीताम्बरा पीठ दतिया

मुद्रक: —
रामसेवक खड़ग
स्वाधीन प्रेस, झांसी ।



टीकाकारः--पीताम्बरापीठ वनखंडेश्वर, दतिया (म० प्र०)

❀ भूमिका ❀

प्रत्यभिज्ञा दर्शन भारतीय साधक परम्परा का साधनाजन्य परमानुभूति का सर्वश्रेष्ठ दर्शन है। इसका आरम्भ काश्मीर से हुआ है, इसे काश्मीर शैव दर्शन भी कहते हैं। यद्यपि काश्मीर के दार्शनिक शैव कहे जाते हैं तथापि ये वास्तव में शाक्त सिद्धांन्त के मानने वाले हैं जिसे पाशुपत-सूत्रों की भूमिका में आर० ए० शास्त्री ने इस प्रकार कहा है:— "The Kashmir Saivaism on the other hand gave more prominence to uma than to Lord Siva." ऐसा ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी कहा गया है— 'चितिःस्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' शिव केवल प्रकाश रूप है, जगत् के उत्पत्ति स्थिति आदि व्यवहार से रहित है। सच्चिदानन्द रूपिणी शक्ति ही सारे जगत् का नियामक है उसी के विकास रूप में सारे जगत् की स्थिति है। छत्तीस तत्वों का विस्तार शक्ति तत्त्व के ही परिणाम का फल है। जगत् रूप से भासित नाम रूप मूलतः शक्ति से अभिन्न है, शिव शक्ति का भेद केवल कथन मात्र है। वास्तव में सिद्धान्त अद्वैत है द्वैत केवल व्यवहार मात्र है। जीव तत्त्व भी मूलतः शिव ही है केवल अविद्या, राग कालादि के द्वारा अल्पीभाव को प्राप्त होता है शक्ति उपासना के द्वारा जीव अपने स्वरूप का विकास करके शिवत्व प्राप्त कर एक अद्वैत अवस्था में पहुंच जाता है। शिव तत्व को प्राप्त करने के लिये प्रत्यभिज्ञा नाम से यह दर्शन प्रसिद्ध है। श्री स्वामीशंकराचार्य के प्रशिष्य सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरिक में चिति शक्ति को मङ्गला-

चरण में स्मरण किया है। शाक्त मत के आचार्य भास्करराय ने भी अपने ग्रंथों में शक्ति सूत्र के ही नाम से व्यवहार किया है। केवल २० सूत्रों में ही बड़े रहस्य मय रूप से मूल विषय का प्रतिपादन किया गया है। इन सूत्रों के रचयिता कौन हैं इसे ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। तथापि इन सूत्रों की व्याख्या श्री अभिनवगुप्ताचार्य के प्रधान शिष्य श्री क्षेमराजाचार्य ने की है यही ग्रंथ प्रत्यभिज्ञा हृदय के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन में अन्य दर्शनों की तरह केवल युक्तिवाद का ही प्रयोग नहीं किया गया है अपितु साधना के गम्भीर स्तर पर इसका निरूपण किया गया है जो कि साधकों के बड़े ही काम की चीज है संक्षिप्त रूप में दार्शनिक तत्वों के निरूपण के पश्चात अन्त के चार सूत्रों में साधना का जो रहस्य बताया गया है वह सर्वथा अपूर्व है। ऐसे सुन्दर उपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कहीं से भी प्राप्त नहीं है जबकि इङ्गलिश अनुवाद प्राप्त हैं। राष्ट्र भाषा हिन्दी में ऐसा उपयोगी ग्रन्थ न होने से इस एक बड़ी कमी का अनुभव करके संस्कृत के अनुसार हिन्दी में अनुवाद करने की इच्छा से हम कई विद्यार्थी बाबूलाल गुप्त, श्रीरामेश्वर दयालु जी एवं हमने श्रीस्वामी जी महाराज से आज से तीन वर्ष पूर्व अध्ययन किया था तथा साथ ही साथ उसे लिखते भी जाते थे। मूल ग्रन्थ की भाषा दार्शनिक होने से अनुवाद में प्राय: पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट नहीं किया जा सका है, इसलिये इनको स्पष्ट करने के लिये पृथक स्पष्टीकरण का एक प्रकरण दे दिया गया है। जिससे पुस्तक का विषय सुगम हो गया है। जिन छत्तीस तत्वों का निरूपण पुस्तक में संक्षिप्त रूप से किया गया है उस पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही षट्त्रिंशत्तत्व-संदोह' नाम से काश्मीर से प्रकाशित है इस दूसरे ग्रंथ को भी मय अनुवाद के दे दिया गया है जिसमें २१ आर्याछन्दों में तत्वों का स्वरूप बताया गया है। यह ग्रंथ भी अपने विषय का उपयोगी है। अंत में श्री क्षेमराजाचार्य का 'पराप्रावेशिका' ग्रंथ का भी हिन्दी-अनुवाद दिया हुआ है जिससे यह विषय शाक्त तत्व जिज्ञासुओं की उपयोगिता में वृद्धि

करता है। इस प्रकार इन तीनों ग्रंथों का अनुवाद एक ग्रंथ के रूप में करके इस (शाक्त तत्व ज्ञान को) साधकों के लिये उपस्थित करने में हमें प्रसन्नता हो रही है और आशा करता हूँ कि इसका उपयोग करके साधक जनता लाभान्वित होगी। इन ग्रंथों की शुद्ध सुन्दर प्रतिलिपि शास्त्री श्री विरञ्जीलाल जी ने तैयार की है एतदर्थ शास्त्री जी सर्वथा धन्यवाद के पात्र हैं।

किशोरीशरण चौदा
दतिया

सूत्र पाठ

सूत्र सं०

१ चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।

२ स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।

३ तन्नाना अनुरूपग्राह्य ग्राहक भेदात ।

४ चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित्विश्वमयः ।

५ चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम ।

६ तन्मयो मायाप्रमाता ।

७ स चैको द्विरूपस्त्रि मयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः ।

८ तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ।

९ चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात मलावृतः संसारी ।

१० तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ।

११ आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापनतस्तानि ।

१२ तदपरिज्ञाने स्वशक्ति भिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ।

१३ तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखाभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चितिः

१४ चितिवन्हिरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रा या मेयेन्धनं प्लुष्यति ।

१५ बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ।

१६ चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्ति दार्ढ्य जीवन्मुक्तिः ।

१७ मध्यविकासाच्चिदानन्द लाभः ।

१८ विकल्पक्षय शक्तिसंकोचविकास–वाहच्छेदाद्यन्त कोटिनि–भालनादय इहोपायाः ।

१९ समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः ।

२० तदाप्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्तावेशात सदा सर्व सर्ग संहारकारिनिज संविद्देवताचक्रेश्वरता प्राप्ति-र्भवति इति शिवम् ।

पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण

पद	विवरण
१ अख्याति	संकोच
२ अणु	सकल प्रमाता
३ अनन्त भट्टारक	विद्या तत्व में स्थित मन्त्र प्रमाता के अधिष्ठाता।
४ अनाश्रित शिव	शून्यात्शून्यात्मा शिवतत्व में स्थिति कारण पंचक में पहला कारण।
५ अन्तः कोटि	द्वादशान्त।
६ अलंग्रास युक्ति	प्रशम विशेष, जहां पर सृष्टि आत्म रूप प्रतीत होती है।
७ अवरोह पदम्	माया प्रमातृ भाव।
८ आणवमलम्	अपने को अपूर्ण मानना।
९ आदि कोटि	हृदय।
१० ईश्वर तत्व	जिससे मैं और यह एकाधिकरण रूप से विश्व के प्रतीति की व्यवस्था हो।
११ ईश्वर भट्टारक	ईश्वर तत्व के अन्तर्गत स्थित मन्त्रेश्वरों के स्वामी
१२ उन्मीलन	पूर्व विद्यमान वस्तु का प्रकट होना
१३ उन्मेष	स्पन्द भूमि—
१४ ऊर्ध्व कुण्डलिनी	उन्मनी पद
१५ करणेश्वरी	खेचरी, गोचरी, दिग्चरी और भूचरी तत्व।
१६ कला	संकुचितता कर्तृत्व शक्ति।

१७ कार्ममलम्	शुभाशुभ अनुष्ठान।
१८ काल	संकुचित नित्यता शक्ति
१९ कालाग्निरुद्र	निवृति कला में कालाग्नि भुवनेश नामक रुद्र विशेष जिसके प्रकोप से विश्व का संहार होता है।
२० क्रम मुद्रा	तुरीय चिति शक्ति।
२१ खेचरी चक्र	कलादि शक्तिचक्र प्रमातृ भूमिका के अधीन योगिनी गण।
२२ गोचरी चक्र	भेद प्रकट करने वाली देवी समूह
२३ ग्राहक	विकल्प मय जीव।
२४ चरम कला	शान्तातीत कला।
२५ चित्त	संकोच के प्रकरण से चितिशक्ति का सत्वादि रूप से स्फुरण।
२६ दिक्चरी चक्र	भेद प्रकट करने वाले देवता चक्र।
२७ नियति	संकुचित व्यापकत्व शक्ति (मेरा जो कर्तव्य है उसमें नियम का हेतु तत्व विशेष)
२८ पंचकृत्य	सृष्टि स्थिति संहार विलय और अनुग्रह।
२९ पति दशा	मुक्ति (शुद्धाध्व के प्रमाता)
३० परमशिव	विश्व से परे परमानन्दमय प्रकाशस्वभाव।
३१ परावाक	अन्य की अपेक्षा न रखने वाली परामर्शमयी पराशक्ति।
३२ पशु	अविद्यादि पाशों से बँधा हुआ जीव, अज्ञानी।

३३ पश्यन्ती	एक वाणी विशेष जिसमें वाच्य वाचक भाव के क्रम का उल्लास नहीं होता।
३४ पुर्यष्टक	शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध; मन बुद्धि और अहंकार।
३५ प्रलय केवली	माया तत्व में स्थिति शून्य प्रमाता इसे प्रलया कल्प भी कहते हैं।
३६ बन्ध	शिव तत्व का ज्ञान न होना।
३७ बैन्दवी कला	स्वातन्त्र्य शक्ति।
३८ ब्रह्म नाड़ी	सुषुम्ना नाड़ी।
३९ मध्य धाम	ब्रह्म नाड़ी।
४० मध्यमा	वाणी।
४१ मन्त्र महेश्वर	परमेश्वर की इच्छा से सदाशिव तत्त्व में रहने वाले प्रमाता।
४२ मन्त्र	विद्या तत्व में रहने वाले प्रमाता
४३ मन्त्रेश्वर	ईश्वर तत्व में हरने वाले प्रमाता
४४ माया	दुर्घट संपादन समर्थ शक्ति।
४५ माया प्रमाता	जीव।
४६ मायीयमल	द्वैतावस्था। माया से लेकर विद्या पर्यन्तपञ्चकंचुक।
४७ मुक्ति	शिवत्त्व का परिज्ञान, विश्वोत्तीर्ण शिव भाव।
४८ राग	संकुचित पूर्णत्वशक्ति।
४९ वामेश्वरी	विश्व को अपने अन्दर से प्रकट करने वाली शक्ति।
५० वाहच्छेद	प्राणापान के गति का निरोध।

५१ विज्ञानाकल	माया तत्व से ऊपर शुद्ध विद्या तत्व के नीचे रहने वाला प्रमाता वर्ग।
५२ विद्या	उन्मना शक्ति।
५३ विद्यापदम्	विद्यातत्त्वम्।
५४ विश्व	सदाशिव से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्व समुदाय।
५५ विश्व सिद्धि	भोग मोक्ष।
५६ विश्व शक्ति	विकास।
५७ शक्तिपात	अनुग्राहक शक्ति का विस्तार।
५८ शक्ति विकास	अन्तर्निगूढ़ शक्ति का बाहर का फैलाव।
५९ शिव भट्टारक	मन्त्र महेश्वर से ऊपर प्रकाशैक स्वरूप परमात्मा।
६० शुद्धाध्व	शिव से लेकर विद्यापर्यन्त सब तत्त्व।
६१ शुद्धिपराध्व	पृथ्वी से लेकर माया पर्यन्त तत्व समुदाय।
६२ शून्य प्रमाता	अबोध रूप का जानने वाला।
६३ शून्य भूमि	प्रलयकाल की अवस्था।
६४ षटत्रिंशत् तत्त्व	जो कि षट् त्रिंशत तत्त्व संदोह में (दूसरे ग्रन्थ में) दिये गये हैं।
६५ संवित देवता चक्र	खेचर्यादि देवी चक्र।
६६ सकल	मायातत्वान्तरवती देवादि स्थावर पर्यन्त तीनों मलों से युक्त जीव।
६७ सदाशिव	शिवशक्ति के योग से स्फुरित अहंता प्रधान कारण तत्त्व।

शुद्धि-पत्र

प्रत्यभिज्ञा हृदय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	क्षेमेणोद्धियते	क्षेमेणोध्द्रियते
१	१९	अप्रकाशमान	अप्रकाशमान्
२	८	जगत	जगत्
४	१७	सामानाधि करण्यरूप	समानाधिकरण्यरूप
५	२३	भगवान	भगवान्
६	७	बट्	वट
८	२५	परामार्थ	परमार्थ
११	८	'पंरा'	'परा'
१२	१०	बंचित	वञ्चित
१५	१६	बिलय	विलय
१७	४	परमेश्वरःऽसएवाऽहं	परमेश्वरःसएवाऽहं
१७	१२	अर्थात	अर्थात्
१८	६	पूर्णांवच्छिन्न	पूर्णावच्छिन्न
१८	१२	द्वांरा	द्वारा
१८	१९	'चिद्बत्'	चिद्वत्
१९	११	सभुद्र	समुद्र
१९	२४	वहीं	वही
१९	२४	स्वभावात्मकं	स्वभावात्मक
२२	२	प्रभातृत्व	प्रमातृत्व
२२	४	प्रभातृत्व	प्रमातृत्व
२२	१२	बृद्धि	वृद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३	१६	परिभित-प्रभाता	परिमित-प्रमाता
२६	२	निमेषोन्मेषु	निमेषोन्मेष
२६	१५	शक्तश्चेतसा	शक्तीश्चेतसा
२६	२३	बिकास	विकास
२७	२	स्पर्शः	स्पर्श
२७	६	व्याप्ती	व्याप्तौ
२८	२	हृदययङ्कजस्योदरे	हृदयपङ्कजस्योदरे
३०	१	व्युथाने	व्युत्थाने
३०	७	आनन्द-पूर्बक	आनन्दपूर्वक
३०	२३	परशक्ति	पराशक्ति
३१	२६	बिमर्श	विमर्श
३४	४	अकनमानन्त	अक्रमानन्त
३४	२४	हृतः	ततः

षट्-त्रिंशत्-तत्वसंदोह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	आछार	आधार
४	२२	क	के
६	१७	शान्ताम्य	शान्तास्य
६	२४	सभ्यावस्था	साम्यावस्था
७	९	अग	अणु
७	१०	अह	'अहम्'
८	७	अचिदरूपता	अचिद्रूपता
८	८	पञ्चभूति	पञ्चभूत
८	१०	आदोन	आदीनि
८	१४	स्या, दापः	स्यादापः

परापावेशिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	पूर्णाहिन्ता	पूर्णाहन्ता
२	७	वश-वतित्व	वश-वर्तित्व
३	६	जगत	जगत्
३	७	प्राण भत	प्राणभूत
४	७	जगत	जगत्
४	१२	अर्थात	अर्थात्
४	१४	जगत	जगत्
५	१२	गय्	गये
६	११	बीजस्थः	वीजस्थः
६	१८	शारब	शराव
७	४	ओकार	औकार

—::※::—

॥ ॐ नमो मङ्गलमूर्तये ॥

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थ विभासिने ॥१॥
शाङ्करोपनिषत्सार प्रत्यभिज्ञा महोदधेः ।
क्षेमेणोद्धियतेसारःसंसारविषशान्तये ॥२॥

जो पुरुष सुकुमार मति वाले हैं तथा तीक्ष्ण तर्क शास्त्र में जिन्होंने परिश्रम नहीं किया है परन्तु शक्तिपात से आविर्भूत पारमेश्वरसमावेश के इच्छुक हैं इस प्रकार के भक्तिमान पुरुषों के लिये मैं ईश्वरप्रत्यभिज्ञातत्व को प्रकट करता हूँ, क्योंकि इस शास्त्र में स्वात्मदेवता (शक्ति) ही सर्वत्र कारण है और वह सुखसाध्य उपाय द्वारा प्राप्त होती हुई महान्-फल को देने वाली है। इसी को अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं:—

सू०—चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः ॥१॥

चिति स्वतन्त्र है और वही विश्वसिद्धि का हेतु अर्थात् कारण है।

सदाशिव से लेकर भूमि पर्यन्त इस विश्वसिद्धि में अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और संहार में, पराशक्तिरूपा चिति ही कारण है। वह भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवतत्त्व से अभिन्न है। इसी से जगत् का आविर्भाव और व्यवस्थापन होता है और जब यह आविर्भाव से पराङ्मुख होती है तब प्रलय होता है। इस विषय में स्वानुभव ही साक्षी है। 'चिति, शक्ति से भिन्न 'माया, 'प्रकृति, आदि, अप्रकाशमान जड़रूप होने के कारण किसी के हेतु नहीं हो सकते। अतएव 'चिति, ही इस विश्वसिद्धि का कारण है और वह प्रकाशमय एक स्वरूप है। देशकाल

आकार आदि इस शक्ति से ही उत्पन्न होकर अनुप्राणित हैं और वे इसके स्वरूप का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। इससे यह सिद्ध है कि यह शक्ति, व्यापक-नित्यप्रकाश और परिपूर्णरूपा है।

अब यह शंका होती है कि यदि जगत् भी 'चिति, से अभिन्न है 'चिति, शक्ति से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, तो ब्रह्म से अभिन्न जगत् का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध कैसे होगा ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि 'चिति, भगवती ही 'जो कि स्वच्छ और स्वतन्त्र रूप वाली है, अनेक रूप जगत से प्रस्फुरण हो रही है। अतएव इस रूप से कार्य-कारण भाव सत्य है। यही 'चिति' शक्ति, 'प्रमाता' प्रमाण, और प्रमेय रूप विश्वप्रकाश ज्ञान में हेतु है। अतएव स्वतन्त्र अपरिच्छिन्न प्रकाश रूप ज्ञान का अर्थात् अभिनवार्थ (बाद में उत्पन्न होने वाले) प्रकाशनरूपप्रमाण का इस तत्व की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं है। त्रिकसार में कहा है:—

स्वपदा, स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरोनस्यात्तथेयं बैन्दवी कला॥

जैसे अपने शिर की छाया को कोई पैर से उल्लङ्घन नहीं कर सकता इसी प्रकार यह सर्वोत्कृष्ट पराशक्ति है। सर्वोत्कृष्ट होने से इसका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार यह पराशक्ति विश्व की सिद्धि उत्पत्ति 'स्थिति' में कारण है। उसी प्रकार पराद्वैतरूप सामरस्य के सम्पादन स्वरूप 'संहार' में भी हेतु है। इसी हेतु से इसे 'स्वतन्त्र' कहा गया है। यह प्रत्यभिज्ञात स्वातन्त्र्य है इस शब्द का अर्थ है कि 'जिसका स्वातन्त्र्य प्रत्यभिज्ञात हो, वह यही 'स्वतन्त्र शक्ति' है। इसी प्रकार भोग मोक्ष रूप जो 'विश्वसिद्धि' का ज्ञान है उस का भी हेतु वही 'शक्ति' है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। और जो नील (बहिरिन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान) सुख, देह, प्राण आदि की सिद्धि है अर्थात् प्रमाण के आश्रय-क्रम से पर: प्रमाता में जो आवेश है ? वही उसके

जानने का उपाय है। अहमाकार आवेश प्रत्यक्ष है। अतएव वह उपाय 'सुखसाध्य' है। 'ऐसा सिद्ध हुआ।'

विज्ञानभट्टारक में कहा है:—

ग्राह्य ग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥

अर्थात् योगी को 'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय' से कोई प्रयोजन नहीं है उस को तो 'अहम्' के विचार से ही प्रयोजन है इसीसे ही सब ज्ञात हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, सब प्राणियों को तुल्य हैं परन्तु योगी में यह विशेष है कि वह अहमाकार के अनुभव के द्वारा सम्बन्ध में सावधान रहता है। अतएव उसका 'सुख उपायत्व' है।

"चिति" यह एक वचन का प्रयोग देश काल आदि के परिच्छेद से रहित है जो समस्त भेदवाद सिद्धान्त को असत्य अथवा अवास्तविक बता रहा है।

'स्वतन्त्र' शब्द ब्रह्मवाद से विलक्षण है और 'चिति, पदार्थ महेश्वर का सार पदार्थ है, यह प्रकट करता है। 'विश्व' शब्द, उस की सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वकारणता, सुखोपायत्व और महाफलत्व को बतलाता है॥१॥

अब यहां शङ्का होती है कि 'चिति' पदार्थ यदि विश्व का कारण है तो इस के उपादानादि से भेद-वाद का परित्याग नहीं होना चाहिये? इस पर कहते हैं:—

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति॥२॥

अपनी इच्छा से ही वह अपने में विश्व को प्रकट करती है। ब्रह्मा आदि की तरह अन्य की इच्छा से प्रेरित नहीं है। अतः उपादान आदि की अपेक्षा न रखते हुये स्वतन्त्र रूप से विश्व की रचना करती है। उपादानादि की अपेक्षा होती तो उसका चेतनत्व ही घटित नहीं होता। पहिले सूत्र में कहा गया 'विश्व' दर्पण में प्रतीत होने वाले नगर की

तरह अचिन्त्य है उसको वह भिन्न की भांति प्रकट करती है। 'उन्मीलयति' शब्द से स्पष्ट है कि जगत् उसके गर्भ में सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ है। उसे ही वह प्रकट करती है। पहिले से विद्यमान को प्रकट करना ही 'उन्मीलन' है। अतः सिद्ध है कि यह 'जगत्' प्रकाशात्मकरूपब्रह्म में विद्यमान रहता है ॥२॥

अब विश्व के स्वरूप को विभाग पूर्वक कहते हैं:—

तन्नाना अनुरूप ग्राह्यग्राहकभेदात् ॥३॥

अनुरूप ग्राह्यग्राहक के भेद से यह विश्व अनेक प्रकार का है। 'अनुरूप' परस्पर औचित्य में स्थित होने के कारण ग्राह्य ग्राहक भेद वैचित्र्य जगत् का नानात्व है। जिस प्रकार का ग्राह्य होता है उसी के अनुसार उसका उचित ग्राहक होता है। अहंता से आच्छादित सदाशिव-तत्व, 'स्फुट' इदन्तामय परापररूप (चराचररूप) स्थूल जगत् अर्थात् ग्राह्य 'विश्व' बन जाता है। अहन्ता ग्राहक है और इदन्ता ग्राह्य है। जिस प्रकार यह होता है वैसे ही सदाशिव भट्टारक से अधिष्ठित 'मन्त्रमहेश्वर वर्ग' 'प्रमातृवर्ग' परमेश्वर की इच्छा से अवकल्पित होकर 'ग्राहक' बनता है। ईश्वरतत्व में स्फुट जो 'अहन्ता-इन्दता' का सामानाधि करण्यरूप है वही ग्राह्य विश्व है। वही तत्त्व अन्तर्मुख 'सदाशिव' है और बहिर्मुख 'ईश्वर' है। और उसी 'ईश्वर' से अधिष्ठित 'मन्त्रेश्वरवर्ग' है और 'विद्या' पद में श्रीमन्त अनन्त भट्टारक से अधिष्ठित बहुशाखाभेद से और अवान्तर भेद से भिन्न कहे जाने वाले जो 'मन्त्र' हैं वही 'प्रमाता' कहे जाते हैं। उसी प्रकार के भेद वाला यह 'विश्व' 'प्रमेय' है। माया से ऊपर (जैसे) विज्ञानाकल कर्तृताशून्य वाले और उससे अभिन्न 'सकल' और 'प्रलयाकलात्मक, अवस्था से परिचितत्व इनका प्रमेय (विषय) है।

यह 'महामाया' माया से ऊपर की अवस्था है। माया से शून्य 'प्रमाता' और 'प्रलय' 'केवली' कहलाता है। अपने योग्य प्रलीन के सदृश प्रमेय है। माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त स्थित जो 'सकल' है वह 'प्रमाता

है। जो परस्पर भिन्न और परिमित हैं वह 'प्रलयाकल' के प्रमेय हैं। इन सब के ऊपर शिवभट्टारक है। जिसका प्रकाश ही एक रूप है और प्रकाशरूप ही जिसका एक भाव है। वही परमशिव है जो विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक हैं। 'परमानन्दघन' 'प्रकाशैकघन' उसका रूप है। इसी प्रकार शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जितना जगत है वह शिव के साथ अभेदरूप से स्फुरित होता है। वस्तुतः 'ग्राह्य' 'ग्राहक'; शिव से भिन्न वस्तु नहीं हैं अपितु परमशिव भट्टारक ही नाना प्रकार से स्फुरित होता है यह प्राय: कह दिया गया है ॥३॥

टिप्पणी—प्रमाता ७ हैं- (१) शिव (२) मन्त्रमहेश्वर (३)मन्त्रेश्वर (४) मन्त्र (५) विज्ञानाकल (६) प्रलयाकल (७) सकल यही 'ग्राहक' अथवा 'प्रमाता' हैं।

(तत्त्व) चिदानन्देषणा ज्ञान, क्रियाणां सुस्फुटत्वतः ।
शिव, शक्ति, सदीशान, विद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ॥

चिदानन्द ब्रह्म (परमशिव) में ज्ञान और क्रिया का स्फुट रूप होने से शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या यह पांच तत्व प्रकट होते हैं।

प्र० सूत्र २ यदुक्तम्—देश—कालाकार भेदः संविदो नहिं युज्यते ।
तस्मादेकैव पूर्णाऽहं, विमर्शात्मा चिदुच्यते ॥

यहां देशकाल और आकार का भेद नहीं है इसलिए एक पूर्ण 'अहमाकार' ही विमर्शात्मा चिति है। 'नील' बहिरिन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ हैं। अन्तरिन्द्रियग्राह्य ज्ञान को सुख कहते हैं। 'प्राणादि' जीवचेष्टा-गम्य हैं।

अब जिस प्रकार भगवान विश्वमय विश्वशरीरी होते हैं उसे कहते हैं :—

चित्ति सङ्कोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित विश्वमयः ॥४॥

'चिति' संकोचात्मा है वह चेतन अर्थात् प्रकाशमय होने पर भी संकुचित (सङ्कोचावस्था में) विश्वमय है।

श्री परमशिव अपने 'स्वात्मैक्य' रूप से स्थित विश्व को, 'सदाशिव' आदि उचित रूपों द्वारा प्रकाशित करने की इच्छा से पहिले 'अनाश्रित-शिवपर्याय' (अर्थात्) शिवनाम के बिना ही शून्य और अतिशून्य के रूप द्वारा ख्यातिमय, 'ज्ञानमय' 'चिति प्रकाश के साथ अभेदरूप से प्रस्फुटित होता है। तदनन्तर चिति में डूबा हुआ 'सम्पूर्णतत्व' भुवन भाव और प्रमाता के रूपों से विस्तृत होता है। जिस रीति से भगवान् विश्वशरीरी हैं ?' उसी प्रकार वह संकुचितचिद्रूप के हेतु से ग्राहक होते हुये भी बट बीज की तरह अशेष विश्वरूप हैं। जैसा कि इस विषय में सिद्धान्त-वचन कहा गया है:—

"विग्रहो विग्रही चैव सर्व विग्रह विग्रही"

अर्थात् ग्राह्य ग्राहक रूप जितना और जहां तक है वह सब 'वही' है या उसी का शरीर है। त्रिशिरमत में भी कहा गया है:—

सर्व-देवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन, द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम् ॥

यह काम सर्व देवमय है इसको मैं कहता हूं। जो कुछ कठिन-रूप है वह पृथिवी है और जो द्रवरूप है वह जल है। इसी को आरम्भ करके कहते हैं:—

'त्रिशिरो भैरवः साक्षात् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः'

त्रिशिर भैरव ही साक्षात् इस सारे विश्व में व्याप्त होकर इसकी व्यवस्था कर रहा है, इत्यादि, कथन से 'ग्राहक' को संकुचित-विश्वमय कहा गया है। इसलिये यहां पर यह आशय है कि जो ग्राहक शिवभाव' 'विश्व शरीर' है वह 'प्रकाश' से अभिन्न है जैसा कि उक्त आगम द्वारा बताया गया है। वही प्रकाशरूप 'शिवभाव' अपनी 'मायाशक्ति' में अभिव्यक्त होने के कारण संकुचित सा प्रतीत होता है। और जो 'सङ्कोच' है वह भी चिदात्मा के अभिन्नरूप से ही विस्तारप्राप्त है ऐसा विचार करने पर ज्ञात हो जाता है। अतएव वह 'चिन्मय' ही है इससे भिन्न कुछ भी नहीं हैं।

सम्पूर्ण ग्राहक, विश्व शरीर वाले शिव भट्टारक का स्वरूप हैं। यह मैंने कहा है—

'अख्यातिर्यदि न ख्याति, ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत् ख्याति रूपत्वात् ख्याति रेवावशिष्यते ।।

अख्याति यदि ख्याति नहीं है ऐसा कहें तो ख्याति बच जाती है, और 'ख्याति' जो है वह 'ख्याति रूप है अर्थात् ज्ञानक्रियात्मकस्वरूप है। इसलिये वह अवशिष्ट रहती है। इसी आशय से स्पन्द-शास्त्र में कहा है:—

यस्मात् सर्वमयो जीवः

इसलिये जीव सर्वमय है। यहां से आरम्भ करके—

'तेन-शब्दार्थ चिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः'

अर्थात् शब्द और अर्थ के विचार में ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिव नहीं है। इत्यादि से शिव और जीव का अभेद कहा गया है, और इस तत्व का परिज्ञान ही मुक्ति है तथा इसका न जानना ही बन्ध है। यह ऐसा ही है ।।४।।

अब शंका होती है कि 'ग्राहक' अर्थात् जीव विकल्प का विषय है। कल्पना मूलक है क्योंकि 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अन्तर्गत आता है। कल्पना चित्त हेतुक है और चित्त के रहते हुये शिवात्मकत्व कैसा? ऐसी आशंका करते हुये चित्त का निर्णय कहते हैं—

सू० चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्य सङ्कोचिनी चित्तम् ।।५।।

चिति शक्ति ही चेतन पद से उतर कर चेत को संकोच करने वाली 'चित्त' पद से कही जाती है। 'चित्त' नामक अन्य कोई वस्तु नहीं है अपितु वह भगवती ही 'चित्त' है उसे बताते हैं कि जब वह अपने स्वरूप को छिपाकर संकोचग्रहण करती है तब उसकी दो गति होती है। कदाचित् (१) उल्लसित (प्रकट) संकोच को गौण कर के चित्तप्रधान से स्फुरित होती है (२) कदाचित् संकोच को प्रधान करके स्फुरित होती है

अर्थात् संकोच में प्रधानता और गौणता के कारण दो प्रकार का स्फुरण है। चित् प्रधानता के पक्ष में सहज प्रकाशमात्र की जहाँ प्रधानता हो उसमें 'विज्ञानाकलता' है और प्रकाश परामर्श (विमर्श) की जहां प्रधानता हो उसको विद्या-प्रमातृता कहते हैं। संकोच की न्यूनता होने पर ईश्वर और सदाशिव की अनाश्रित रूपता हो जाती है और समाधि प्रयत्न से जो चित्त की प्रधानता प्राप्त की जाती है उस से शुद्धाध्व प्रमातृता होती है। यह अवस्था क्रम से उत्तरोत्तर प्रकर्ष वाली हैं। संकोच की प्रधानता होने पर शून्य (आकाश) की प्रमातृता होती है। ऐसा होने पर वही 'चिति' शक्ति संकुचित ग्राहक रूप हो कर चेतन-पद से अवरूढ़ होकर अर्थात् उतर कर विषयों के ग्रहण करने में उन्मुख होती है। नील-सुखादि के द्वारा संकोच को प्राप्त उभय-संकोच से संकुचित जो चिति शक्ति है वही चित्त है। तथा च—

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु, पत्युर्ज्ञानं क्रियाचया।
मया तृतीये त एव, पशोःसत्वं रजस्तमः॥

वही चिति ही स्वाङ्ग रूपवाले भावों में पशुपति' का 'ज्ञान' और क्रिया है जहाँ पर कि जीव को अपने स्वरूप की विस्मृति नहीं है। और वही 'चिति' अवरूढ़ होने पर तृतीय माया श्रेणी में आकर पशु कही जाती है। जिस में सत्व, रज, और तम गुण होते हैं, इत्यादि से, स्वतन्त्र रूप वाली जो चिति शक्ति है वह ज्ञान क्रिया और माया रूपवाली पशु दशा में संकोच के प्रकर्ष से सत्व रज और तम स्वभाव से स्फुरित होती है। यह बात प्रत्यभिज्ञा में कही गई है। इसीलिये विकल्प दशा में भी तात्त्विक स्वरूप का सद्भाव होने से तदनुकूल अभिप्राय से श्री गर्भस्तोत्र में कहा गया है:—

अतएव तु ये केचित् परमार्थानुसारिणः॥

अर्थात् जो कोई परामार्थ का अनुसरण करने वाले हैं उनके स्वरूप का उस अवस्था में भी स्वयं-ज्योति रूपता अर्थात् प्रकाश रूपता का अभाव नहीं होता॥५॥

माया प्रमाता जीव ही चित्त रूप वाला है इसे आगे के सूत्र में बताते हैं:—

तन्मयो माया प्रमाता ॥६॥

माया प्रमाता (जीव) चित्तमय होता है। देह प्राण पद चित्त-प्रधान हैं। शून्यभूमि अवस्था चित्त-संस्कार वाली है। उसी का प्रमाता (माया-प्रमाता) जीव है। यदि ऐसा न माना जाय तो उससे निवृत होने पर स्वकर्तव्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये चित्त-मय ही मायीय-प्रमाता है। इसी अभिप्रायानुसार वस्तुस्थिति को लक्ष्य करके 'शिवसूत्र' में कहा गया है, 'चैतन्यमात्मा' (१–१) आत्मा चेतन स्वरूप है। ऐसा कहने के अनन्तर माया-प्रमाता के लक्षण के प्रसङ्ग पर 'चित्तमात्मा' कहा गया है अर्थात् चित्त ही आत्मा है ॥६॥

टिप्पणी—जो चेतना करता है वह चेतन है अर्थात् चेतना करने वाले को ही चेतन कहते हैं। चेतन' समस्त ज्ञान और क्रियाओं में स्वतंत्र है। उसी का भाव चैतन्य है तथा सर्व ज्ञान क्रिया सम्बन्ध मय उसका परिपूर्ण स्वातन्त्र्य है। यह सब भगवान् शिव में ही घटित होता है अन्य में नहीं जो उनके आधीन है उन्हें स्वातन्त्र्य नहीं है ऐसा पहिले सूत्र में कह कर तीसरे उन्मेष में 'चित्तमात्मा' इस सूत्र द्वारा कहा है। विषय-वासना से स्फुरित नित्य-पद अध्यवसाय व्यापारादि, बुद्धि अहङ्कार मन रूप चित्त है। वही आत्मा चिदात्मक स्वरूप ख्याति से सत्वादिवृत्तियों का अवलम्बन करके नाना योनियों में घूम रहा है। इसलिये वह आत्मा अणु है। चेतन स्वरूप होने से इस आत्मा का आना जाना नहीं है। इसलिये 'चैतन्यमात्मा' स्वभाव वाले तात्विक स्वरूप प्रतिपादन के आशय से पहले आत्मा को बताया गया है। 'तन्मयो प्रमाता' इस सूत्र से 'आत्मा का संकोच' एवं 'आभासप्रधानआणव' दशा के औचित्य से बताया गया है। इसलिये पूर्वापर का वैषम्य नहीं है ॥ इति ॥

इस 'चिति' शक्ति पदार्थ के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से मुक्ति होती है और इस को बताने के लिये आगे का सूत्र प्रवृत्त होता है :—

सूत्र – स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चक स्वभावः ॥७॥

वह एक होते हुये भी दो, तीन, चतुरात्मा और सप्तपञ्चक (पैंतीस) स्वभाव वाला है। निर्णीत दृष्टि से चिदात्मा शिवभट्टारक ही एक आत्मा है। और उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। क्योंकि 'प्रकाश' का देश काल आदि से भेद नहीं हो सकता। जड़ को ग्राहकता (कर्तृत्व) नहीं है। प्राण आदि सङ्कोच दशा वाला 'प्रकाश' ही स्वतन्त्र रूप से संकुचित अर्थ वाली 'ग्राहकता' को प्राप्त करता है। इसके अनन्तर वह प्रकाश-रूपत्व और सङ्कोचावभासकत्व रूप से दो प्रकार का होता है। पुनः आणव मायीय और कार्ममल से आवृत होकर तीन प्रकार का हो जाता है। शून्य (माया के विषय में कर्तृत्व) प्राण और पुर्यष्टक शरीर के स्वभाव से वह चार प्रकार का है। शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त पैंतीस तत्त्व-स्वभाव वाला है। शिव से लेकर सकलान्त प्रमातृसप्तकस्वरूप चिदानन्द इच्छा, ज्ञान, क्रिया-शक्ति रूपवाला होने पर भी अज्ञान वश, कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप कञ्चुकों से आच्छादित होकर पाँच रूप वाला है। इस प्रकार शिव ही एकरूप होते हुये भी पैंतीसतत्त्वरूप से सप्तप्रमातृस्वभाव वाला चिदादि शक्तिपञ्चकरूप से 'वही यह सर्व रूप से एक शिव है', प्रत्यभिज्ञायमान होता है। तब ऐसा ज्ञान मुक्ति देने वाला होता है। अन्यथा इससे भिन्न संसार-बन्ध का हेतु है ॥७॥

एवं च–इस प्रकार—

तद्भूमिकाः सर्वदर्शन स्थितयः ॥८॥

भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में जो शिवतत्त्व का रहना है उसी में समस्त दर्शन-शास्त्रों की स्थिति है। ये भूमिकायें नट की स्वेच्छागृहीत की तरह कृत्रिम हैं:—'चैतन्यविशिष्टशरीरमात्मा' चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है ऐसा चार्वाक का मत है। ज्ञानादि गुणसमुदाय का आश्रय बुद्धितत्त्वप्राय ही आत्मा है ऐसा नैयायिक आदि मानते हैं और अपवर्ग में उसका उच्छेद होने से शून्य-प्राय बतलाते हैं 'अहम्' प्रतीति से जानने

के योग्य सुख-दुःखादि उपाधि से रहित आत्मा है ऐसा मीमांसक लोग मानते हैं। जिसका समावेश बुद्धि ही में होता है। ज्ञान का क्षणिक सन्तान (प्रवाह) ही तत्त्व है यह बुद्ध का मत है जिसका बुद्धि ही में पर्यवसान है। कोई कोई वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं। अभाव ब्रह्म-वादी असद्-रूप से उसे कहते हैं। माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध भी इसी को शून्य मानते हैं। 'पंचरात्रमत में 'परा' प्रकृति भगवान् वासुदेव हैं। अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह भगवान् वासुदेव से जीव निकलते हैं। 'परा' प्रकृति में परिणाम स्वीकार करने से अव्यक्त में इन का समावेश है। सांख्यादि मतवाले 'विज्ञानाकल' की भूमिका स्वीकार करते हैं सदेव 'इदमग्र आसीत्' एक सद् अद्वैत तत्त्व ही सृष्टि के पहिले था इसे कोई कोई वेदान्ती मानते हैं। इनका समावेश ईश्वर-तत्त्व में होता है। शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती रूप आत्म-तत्त्व को वैयाकरण लोग मानते हैं। इनका समावेश सदाशिव तत्त्व में हो जाता है। इसी प्रकार औरों को भी समझ लेना चाहिये। आगमों में कहा भी है:—

'बुद्धि तत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेद-विदः पुंसि, अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥

अर्थात् बुद्धि-तत्त्व में बौद्ध, गुणों में जैन, पुरुष के विषय में वेदान्ती, और अव्यक्त के विषय में पञ्चरात्रमत वालों की स्थिति है, इत्यादि कहा गया है। विश्व से ऊपर आत्म-तत्त्व को तान्त्रिक लोग मानते हैं। विश्व-मय आत्मा को कुलाचार वाले मानते हैं। विश्व-मय एवं विश्व से परे दोनों रीति से त्रिकदर्शन (शैव दर्शन) में माना गया है। जैसे-जैसे माया के आच्छादन की न्यूनता होती गई; वैसे-वैसे ये सब विभक्त भूमिकायें स्वातन्त्र्य के हटने पर तार-तम्य के भेद से हुई हैं तथा ये सब एक भगवान् शिव के स्वातन्त्र्य में अभिभासित हैं अतः इन समस्त मतों में एक चिदात्मा 'शिव' ही व्याप्त हैं। अल्प दृष्टिवाले लोग अंशांशिक विषय में उस की इच्छा से अभिमान द्वारा ग्रहण किये गये हैं इस कारण

देहादि भूमिका में उन की प्रमातृता होने से भगवान् की उक्त-रूप महा-व्याप्ति को विना शक्ति-पात के नहीं पा सकते। कहा भी है—

'वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद् विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम्॥

विद्या-राग से रञ्जित वैष्णवादि लोग सर्वज्ञ ज्ञान-शाली परमात्मा को नहीं जानते हैं। 'भ्रामयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा से माया उन्हें घुमा रही है।

त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम्॥

वह पहिले कहे गये आत्मोपासक, शैवपरमपद को प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् परमशिवतत्त्व से सर्वथा बंचित रहते हैं क्योंकि वे सब अज्ञानी एवं मूढ़ हैं। अतः इसके अतिरिक्त सर्वदर्शनों की अर्थात् नील-सुखादिज्ञानों की अन्तर्मुखीय विश्रान्ति का तथा चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति का जो साधन है उसे कहते हैं:—

जब जब बहिर्मुखरूप, 'स्वरूप में' विश्रान्त होता है तब तब बाह्य-वस्तु की समाप्ति हो जाती है और अन्तः प्रशान्त पद में स्थिति हो जाती है। तब भिन्न-भिन्न रूप में उदय होती हुई ज्ञान की सम्पत्ति का प्रवाह होता है। सृष्टि स्थिति और संहार के मेलन रूप जो तुरीया-संवित्, भट्टारिका है वही सृष्टि आदि के भेदों को प्रकट करती हुई संहार करती है। सदापूर्णरूप, सदाकृशरूप और उभयरूप एवं अनुभयात्मा वह, विना क्रम के ही जगत् का स्फुरण करती है। श्री प्रत्यभिज्ञा टीका में कहा है:—

'तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति, पूर्णा च भवति'

अर्थात् सर्वसंहार के पश्चात् वह पूर्णरूप से रहती है। यही चौथी भट्टारिका क्रमशः अधिक अनुशीलन करने पर अपने भक्तों को आत्म-स्वरूप कर लेती है॥८॥

इस विषय पर यह आशङ्का होती है कि जब आत्मा की स्थिति इस प्रकार की है तो वह मल से आवृत और कला आदि से आच्छादित हो कर संसारी क्यों हो जाता है ? इसका उत्तर आगे सूत्र में देते हैं:—

चिद्वत्तच्छक्ति सङ्कोचात् मलावृतः संसारी ॥९॥

चिति स्वयं अपनी शक्ति के सङ्कोच से मलावृत संसारी हो जाती है।

चिदात्मा परमेश्वर जब स्वातन्त्र्य से अभेद-व्याप्ति में निमग्न होकर भेदव्याप्ति का अवलम्बन करता है तब उसकी इच्छाशक्तियाँ असंकुचित होते हुये भी संकुचित सी प्रतीत होती हैं उसी समय यह मलावृत संसारी होता है अप्रतिहत-स्वातन्त्र्यरूप 'इच्छा-शक्ति' संकुचित होती हुई अपूर्णमन्यतारूप 'आणव-मल' को प्रकट करती है। 'ज्ञान-शक्ति' क्रम से संकोच होने पर 'भेद' में सर्वज्ञत्व को किंचिज्ज्ञत्व की प्राप्ति करती है और अत्यन्त संकोच ग्रहण करने से भिन्न बन्ध रूप 'मायीय मल' को अन्तःकरण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की प्राप्ति पूर्वक प्रकट करती है।

'क्रिया-शक्ति' क्रम से, सर्व-कर्तृत्वरूप आत्मा के किंचित् कर्तृत्व-रूप संकोच से कर्मेन्द्रिय ग्रहणपूर्वक अत्यन्त अल्पता को प्राप्त होकर शुभाशुभ अनुष्ठानमय 'कार्ममल' को प्रकट करती है। इस प्रकार सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्वशक्तियाँ संकोच ग्रहण करतीं हुईं यथाक्रम कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप से प्रतीत होतीं हैं। ऐसी स्थिति में यह 'जीव' शक्ति दरिद्र संसारी कहलाता है और स्वशक्ति के विकास होने पर शिव हो जाता है ॥९॥

अब इस अवस्था में उक्त संसारी 'जीव' को यह ज्ञान है कि नहीं। जिससे यह ज्ञात हो कि उसे 'शिवत्व' है इस शङ्का को दूर करते हुये अग्रिम-सूत्र में बताते हैं:—

तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानिकरोति ॥१०॥

जैसे ईश्वर पंचकृत्य करते हैं वैसे जीव भी करता है। केवल व्यष्टि समष्टि का भेद है। इस ईश्वराद्वैतदर्शन में ब्रह्मवादी से यही विशेष है। 'सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्। अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्ति विनाशकम्' अर्थात् सृष्टि, संहार, विलय और स्थिति करने वाले एवं भक्तों के दुःखनाशक तथा अनुग्रह करने वाले देव को मैं भजता हूँ। इस प्रकार 'स्वच्छन्द आदिशास्त्र' की नीति से सदा पंचकृत्यकारित्व चिदात्मक भगवान् को ही सिद्ध है। जैसे भगवान् शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध अध्व के विस्तारक्रम से स्वरूपविकासरूपसृष्टि को करते हैं, उसी प्रकार संकुचित चिच्छक्ति से संसारभूमिका में भी पंचकृत्य करते हैं। 'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्। भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः॥' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कारिका में कहा गया है कि व्यवहार दशा में भी 'प्रभु' देहादि में प्रविष्ट होते हुये भी अन्तः प्रकाशित अर्थ समुदाय को बाहर प्रकाशित करते हैं॥ इस अर्थ की दृष्टि से देह प्राणादि स्थानों में प्रवेश करते हुये चिद् रूपमहेश्वर बहिर्मुखीयभाव के अवसर पर जब नीलादि अर्थ को 'नियतदेशकाल' के द्वारा आभासित करते हैं तब नियत देशकाल आदि के आभास में उनकी सृष्टिता है। और अन्यदेशकालादि के आभास अंश में संहारकत्व है। जीव आदि के आभास अंश में उसकी स्थापकता है, भेद से आभास अंश में उसकी विलयकारिता है। प्रकाश-रूप से अनुग्रह है। इत्यादि से जैसा भगवान् को पंचविधकृत्यकारित्व है वह विस्तार के साथ 'स्पन्दसन्दोह' नामक ग्रन्थ में कहा गया है।

इस प्रकार आत्मीय पंचविधकृत्यकारित्व को जो दृढ़ता से परिशीलन करता है। उसके प्रति महेश्वर उसमें अपनी भक्ति प्रकट करते हैं जिसके प्रभाव से मननकर्ता परमतत्त्व को जान लेते हैं और इस विश्व को उस स्वरूप के विकासमय समझकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं और जो भेद बुद्धि रखते हैं वे बन्धात्मा बन्धन में पड़े रहते हैं॥१०॥

उक्त प्रकार से पंचविधकृत्यकारित्व बतलाने पर यह प्रश्न होता है कि यह पंचविधकृत्यकारित्व एक ही प्रकार का है इसके अन्य प्रकार क्या हैं इसे आगे के सूत्र में कहते हैं:—

आभासन रक्तिविमर्शन बीजावस्थापन विलापनस्तानि ॥११॥

आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन से वह पंचकृत्यों को करता है इसका पूर्व सूत्र से सम्बन्ध है।

श्री मन्. महार्थ की दृष्टि से अर्थात् आभासनरूपसंसारसृजन की दृष्टि से दृगादि देवी के प्रसरण क्रम से जो जो प्रतीत होता है वही सब बनाता है और बनाये हुये पद में किंचित् काल पर्यन्त रञ्जन करता है। उस काल में स्थिति देवी उसका स्थापन करती है। अद्वैतबोध चमत्कार जिसका दूसरा नाम विमर्श है उस काल में संहार करता है। जैसा कि श्रीराम ने कहा है—

समाधि वज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद् भक्ति बलशालिभिः॥

'अन्य योगियों के मत से समाधिवज्र से भी न टूटने वाला जो भेद-रूपी पर्वत है वह तुम्हारी भक्ति के बल से बलवान् भक्तों द्वारा नष्ट हो जाता है।' जब संहारभावप्राप्त यह जगत् अन्तः विचित्र आशङ्कादि संस्कार धारण करता है तब फिर उत्पन्न होने वाला संसार बीजाभाव को प्राप्त होकर बिलय पद से आरोपित होता है अर्थात् विलय कहलाता है। जब अन्तः स्थापित अनुभव में आने वाला जगत् हठपाकक्रम से, प्रशम अथवा शान्ति विशेष से, अलंग्रास युक्ति से पूर्णग्रासित अथवा चिदग्नि से भस्मसात् हो जाता है उस समय पूर्णता आपादक (शिवोऽहम्) भाव के द्वारा अनुग्रह करता है। इस प्रकार पंचविधकृत्यकारित्व सबको समीप होते हुये भी सद्गुरु के उपदेश बिना प्रकाशित नहीं होता। इस-लिये इस प्रथा की रक्षा के लिये सद्-गुरु की पूजा का ही अनुसरण करना चाहिये ॥११॥

जिन्हें सद्गुरु उपदिष्ट सद्ज्ञान नहीं है उन्हें स्वरूप अवच्छादित निजशक्तियों द्वारा व्यामोहित अवस्था ही रहती है इसे आगे के सूत्र में कहते हैं:—

तदपरिज्ञाने स्वशक्ति-भिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ॥१२॥

उस पंचकृत्यकारित्व का परिज्ञान न होने पर जो अपनी ही शक्ति द्वारा व्यामोहितत्व अर्थात् भूलना है उसी की नाम संसारित्व है। यह इस सूत्र का शब्दार्थ हुआ। पंचकृत्यकारित्व जो सदा सम्भव है परन्तु उसके 'परिज्ञान' से तथा 'शक्तिपात' से स्वकीय बल का प्रकाश प्राप्त न होने पर 'अप्रकाश' में स्वशक्तियों द्वारा व्यामोहितत्व होता है। तब अनेक प्रकार के लौकिकशास्त्रीय शङ्कारूप शंकु (कील) से कीलित होता है अर्थात् आक्रान्त होता है यही संसारित्व है। सर्ववीरभट्टारक में कहा है– 'अज्ञानाच्छंकते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः' अज्ञान से लोग शंका करते हैं उसी से सृष्टि और संहार होते हैं। अब सब वर्ण शिवस्वरूप ही हैं इसको कहते हैं:—

'मन्त्रावर्णात्मकाः सर्वे, सर्ववर्णा शिवात्मकाः'

सब मन्त्र वर्णात्मक हैं और सब वर्ण शिवात्मक हैं। चित् प्रकाश से अभिन्न पूर्णाहन्तारूप विमर्शमयी यह परा वाक्शक्ति 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त है और सम्पूर्ण शक्तिचक्र इसी के गर्भ में है। यह परावाक्शक्ति पश्यन्ती, मध्यमा, आदि के क्रम से ग्राहकभूमि को प्रकाशित करती है, परारूप से अपने स्वरूप का फैलाव न करते हुये मायाप्रमातारूप अस्फुट और असाधारण अर्थावभासरूप प्रतिक्षण नयी नयी विकल्प क्रियाओं को करती हुई शुद्ध होने पर भी अविकल्पदशा को आच्छादित किये हुये दिखाई देती है। ठीक उसी अवस्था में ब्राह्मी आदि देवताओं से अधिष्ठित ककार आदि हैं। वस्तुतः सब परावाक्शक्ति है। इसी प्रकार आत्मा स्वतन्त्र है। विचित्र शक्ति द्वारा व्यामोहित देह, प्राणादि से परिमित केवल मूढ़ लोग मानते हैं। ब्राह्मी आदि शक्तियां पशुदशा (जीवदशा) में भेद-विषयक-सृष्टि और स्थिति का विस्तार करतीं हैं। अभेददशा में संहार का परिमितविकल्पपात्रत्व सम्पादन करतीं हैं। पति-(शिव)-दशा में तो भेद में संहार और अभेद में सृष्टि और स्थिति प्रकट करतीं हैं। क्रमशः विकल्प का निराकरण होने पर श्रीमद्भैरवमुद्रा (अहंब्रह्मास्मि) में अनुप्रवेशवाली महान् अविकल्पभूमि को प्रकट करतीं हैं कहा है—'सर्वोममाऽयं विभव

इत्येवं परिजानतः । विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता, मेरा ही यह सारा वैभव है ऐसा जो पुरुष जानता है वह विश्वात्मक समस्त विकल्पों के विस्तार में व्यवहार करते हुये भी 'शिव ही है । विज्ञान भैरव में भी कहा गया है—सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरःऽम एवाऽहं शैवधर्मः इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ।। सर्वज्ञ सर्वकर्ता व्यापक परमेश्वर ही मैं हूं । इस शैवधर्म की दृढ़ता से शिव हो जाता है । इत्यादि रूप से चिदानन्द के आवेश में मग्न शुद्ध विकल्प शक्ति को समुल्लसित (पल्लवित) करती हैं । इस उक्त नीति से स्वशक्ति का जो व्यामोहितत्व है वही संसारित्व है ।

श्री भगवती 'चिति, शक्ति विश्व के वमन करने से वामेश्वरी संज्ञा वाली है क्योंकि संसार वामाचार वाला है । वही खेचरी, गोचरी, दृग्चरी, भूचरी के अशेष रूपों से स्फुरण करती हुई शून्य पद अर्थात (पशु भूमिका) में विश्रान्त किञ्चत् कर्तृव्य स्वरूप कलारागादि शक्ति से 'खेचरीचक्र रूप चिद्गगन में विचरण करने वाले स्वरूप से प्रकाशित होती है । जो स्थान गुप्त पारमार्थिक है ।

अभेद निश्चयात्मक पारमार्थिक स्वरूप को गोपित रखकर भेद-निश्चय के अभिमान और विकल्प प्रधान अन्तःकरण द्वारा 'गोचरी-चक्र, में विचरण करने वाले स्वरूप से प्रकाशित होती है ।

इसी प्रकार गोपित हुये अभेदात्मक पारमार्थिक स्वरूप के द्वारा भेदालोचनादि प्रधान बहिष्करण देवता रूप 'दृग्चरी, स्वरूप से स्फुरित होती है ।

सर्वात्मस्वरूप को गोपित रखकर पशु हृदय को व्यामोहित करती हुई सब प्रक्रम से भिन्न भिन्न आभास स्वभाव-स्वरूप प्रमेयों द्वारा 'भूचरी चक्र, से प्रकाशित होती है ।

पति–भूमिका में वह कर्तृत्वादि शक्त्यात्मक "चिद्गगनचरी" रूप तथा अभेद निश्चयात्मक गोचरीत्व एवं अभेदालोचनात्मक दृग्चरी रूप

से और स्वाङ्गाभेद-कल्पाद्वैत अभेद विषय रूप से भूचरित होती हुई पति (शिव) हृदय का विकास करती हुई स्फुरित होती है। सहज चमत्कार में आदर प्राप्त श्री भट्टदामोदर ने अपने विमुक्तक में कहा है—

"पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः। वामेशाद्याः
परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः॥"

अर्थात् पूर्णावच्छिन्नमातृवर्ग अन्तःकरण बहिष्करण-भाव वाली वामेश आदि शक्तियाँ हैं उनके ज्ञान और अज्ञान से मोक्ष एवं बन्ध होते हैं। इस प्रकार निज शक्ति का व्यामोहितत्व ही संसारित्व है। इस दशा में चिदात्मा परमेश्वर की निजी, अनपायिनी, विनाशरहित, एक, स्फुरत्तासार कर्तृत्व रूप ऐश्वर्य-शक्ति अपने रूप को छिपा कर पशुपद (जीव) में प्राण, अपान समान दशा में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं द्वारा देह, प्राण, पुर्यष्टक, (सूक्ष्म शरीर) कला के रूप से मोहित करती है।

और जब मध्यमधाम में (मध्यमावाणी के स्थान में) उल्लास करने वाली उदान-शक्ति, विश्वव्याप्त व्यान शक्ति रूप तुर्यदशा को चिदानन्द-घन वाली तुर्यातीत दशा को उन्मीलन करती है उस समय देहादि अवस्था रहते हुये भी पतिदशा (शिवत्व स्वरूप) वाली जीवन्मुक्ति होती है। इस प्रकार तीन रीति से स्वशक्ति व्यामोहितत्व का व्याख्यान है। "चिद्वत्" इत्यादि नवें सूत्र में संकुचित चित् प्रकाश वाले को संसारी कहा गया है और इस बारहवें सूत्र में स्वशक्ति के व्यामोहितत्व से संसारित्व कहा गया है यह केवल प्रकारान्तर से ही बतलाया गया है॥

इस प्रकार संकुचित शक्ति वाला प्राणादिमान् भी जब स्वशक्ति से व्यामोहित नहीं होता तब—शरीरी परमेश्वरः, शरीर वाला होता हुआ भी परमेश्वर है। इस आम्नाय परम्परा से वह शिव भट्टारक है। इस प्रकार वह निरूपित होता है। आगम का वचन है—

मनुष्य देहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।

मनुष्य देह में रहते हुये भी वह छिपे हुये परमेश्वर ही हैं। प्रत्य-भिज्ञा टीका में भी कहा है—

"शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्वमयंशिवरूपतया पश्यन्ति"

वे शरीर एवं घटादि को भी छत्तीस तत्व शिव रूप ही देखते हैं ऐसे देखने वाले सिद्ध कहलाते हैं ॥१२॥

टिप्पणी— आत्मा (जीव) मन से, मन इन्द्रियों से और इन्द्रियां अर्थों से जब संयुक्त होतीं हैं तब इन सन्निकर्षों को जाग्रत अवस्था कहते हैं। आत्मा का मन से और मन का विषयों से जब संयोग होता है तब स्वप्नावस्था रहती है। और आत्मा और विषय के सन्निकर्ष में सुषिप्त होती है। केवल आत्मा के संयोग का नाम तुर्यावस्था है। निस्तरङ्गसमुद्र के समान जो स्थिति है उसे तुर्यातीतावस्था कहते हैं ॥१२॥

उक्त, सूत्रार्थ से विपरीत तत्त्व–दृष्टि को बताते हुये कहते हैं—

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन
चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥१३॥

उसके परिज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखीभाव द्वारा चेतन–पद पर आरूढ़ होने से चिति कहलाता है। १३॥

पूर्व के सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रमेयदृष्टि से विस्तार करके इस सूत्र की व्याख्या प्रायः की जा चुकी है। अब शब्द की सङ्गति की दृष्टि से व्याख्या करते हैं:—

वह पञ्चकृत्य करने वाले आत्मीय परिज्ञान होने पर तथा अज्ञान के लक्षण का विनाश होने पर तथा स्वशक्ति की व्यामोहितता निवृत्त होने पर स्वातन्त्र्य लाभ होता है। जिस चित्त की पूर्व में व्याख्या की जा चुकी है, वहीं संकोचस्वभावात्मक चित्त, अपनी बहिर्मुखता को छोड़ता हुआ अन्तर्मुखीयभावद्वारा चेतन पद पर आरूढ़ होकर क्रमशः ग्राहकभूमिका का उल्लङ्घन कर के सङ्कोचकला का विनाश होने पर

स्वरूप की प्राप्ति हो जाने से 'चिति, होता है और अपनी' परा, भूमि में प्रवेश करता है ।।१३।।

स पुनः शाम्भवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन।
क्रमान्मन्त्रेश तन्नेतृ-रूपो याति शिवात्मताम्।

अर्थात् वह शाम्भव इच्छा से शिव का अभेद अनुभव करता हुआ क्रम से मन्त्रेश और उसके नेता रूप (ईश्वर और सदाशिव) होता हुआ शिवत्व को प्राप्त होता है ।।१३।।

इस विषय पर आशङ्का होती है कि यदि परमार्थिक चिच्छक्ति पद सम्पूर्णभेद को अपने में लीन कर लेने वाला है तो माया-पद में भी उसे वैसा ही होना चाहिये, जैसे कि सूर्य मेघाच्छादित होने पर भी सब भावों को प्रकाश करता है। इसलिये आगे के सूत्र में कहते हैं:—

चिति वह्निरवरोहपदेछन्नोऽपि मात्रामेयेन्धनं प्लुष्यति ।। ४।।

चिति रूपीय वह्नि (अग्नि) अवरोहपद अर्थात् माया-पद में ढकी रहने पर भी अंश-रूप से विषय रूप इन्धन को भस्म कर देती है।

'चिति, शक्ति ही विश्वग्रसन स्वभाव वाली होने से 'अग्नि है। वही अवरोह-पद में मायाप्रमातृता में ढकी हुई होने पर भी अधिक भस्म से ढकी अग्नि की तरह अपने अंश से नील, पीत आदि प्रमेय-रूप इन्धन को जला देती है तथा स्वात्मसात् (लीन) भी कर लेती है यह 'मात्रा, पद का अभिप्राय है। किंचित् शक्ति के आधीन माया-पद होने से सम्पूर्ण-रूप से उसका ग्रास नहीं करती। अपितु अंश-संस्कार-रूप से उसको प्रकट करती है। 'चिति, का ग्रासकत्व सब प्रमाताओं को स्वानुभव से सिद्ध है। अपने 'निजस्तोत्र, में श्री मद् उत्पल-देव ने इस प्रकार कहा है:—

वर्तन्ते जन्तवोऽशेषाअपि ब्रह्मेन्द्र विष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम् ।।

ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र आदि जितने जन्तु हैं वे सब 'चिति, शक्ति के ग्रसमान हैं इसलिये हे देव ! आपके स्वरूप की ही मैं वन्दना करता हूं ॥१४॥

जब करणेश्वरी देवी (इन्द्रिय-शक्ति) प्रसार का संकोच सम्पादन करके सर्ग (सृष्टि) और संहार क्रम के परिशीलन के योग में आवेश करती है तब उसका आत्मसात् होता है यह आगे के सूत्र में बतलाते हैं:—

बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ॥१५॥

बल-लाभ होने पर विश्व को अपने में लीन कर लेती है। 'चिति, देह, प्राण, आदि के आच्छादन और निमजन से स्वरूप का उन्मेष (विकास) करती हुई बल को प्राप्त करती है। जैसे कहा है—

तदाक्रम्य······बलं मनः

अर्थात् उस शक्ति के स्वरूप को प्राप्त करके साधक बल को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बल के लाभ होने पर तथा उन्मग्न (ऊपर के) स्वरूप का लाभ होने पर पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यन्त सारे विश्व को वह शक्ति अपने अभिन्न रूप से प्रकट करती है। ऐसा ही स्वभाषामयक्रमसूत्र में पूर्व गुरुओं ने कहा है:—

"यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति तथा विषय-पाशाद् भक्षयेत्"

जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ-आदि इन्धन को जला देती है उसी प्रकार अभिन्न रूप से चिन्तित 'चिति शक्ति, विषय-पाशों को जला देती है।

इसको प्रत्यभिज्ञाकार ने इस प्रकार कहा है कि—ऐसा नहीं कहना चाहिये, कि विश्व का चिति शक्ति के साथ जो अभेदानुभव है वह नित्य नहीं है अतः वह अभेदावस्था में उपादेय नहीं हो सकती क्योंकि देह के उन्मजन और अप्रकट अवस्था से इस अद्वैतावस्था का अनित्यत्व हो जाता है। वास्तव में 'चिति, के स्वातन्त्र्य द्वारा अवभासितदेहादि के उन्मजन से अनित्यत्व ज्ञात होता है यह 'चित, तो सर्वदा प्रकाशमान

है। यदि वह प्रकाशमान् न हो तो देहादि को प्रकाशित नहीं कर सकती। अतएव देहादि में जो प्रभातृत्व का अभिमान है उसको दूर करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है।

प्रभातृत्व के अभिमान–निवृत्ति के लिये ही अभ्यास की अपेक्षा है। प्रथमानतासार 'प्रमातृता, की प्राप्ति के लिये नहीं ॥१५॥

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि
चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥१६॥

चिदात्म के लाभ होने पर देहादि के चेत्यमान होने पर भी चिदैकात्म्यज्ञान की दृढ़ता से ही जीवन्मुक्ति होती है।

विश्व के साथ अभेद–रूप से 'चिति, शक्ति का अनुभव होने पर तथा चिदानन्द के लाभ होने पर जिसे समावेश (समाधि) के संस्कार बल से आगे कही गई युक्ति क्रम की वृद्धि प्राप्त है उसे व्यवहार–दशा की द्वैतभान और पीपल के पत्ते की अवस्था में अर्थात् देह प्राण, नील–सुखादि में आभासित होने वाली अवस्था में भी चिद् रूप आत्मा के ऐक्य ज्ञान की दृढ़ता प्राप्त होती है। उसी अविचल चिद् एकत्व प्रथा को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। इस ज्ञान को रख कर जीते हुये प्राणों को धारण करना ही जीवन्मुक्ति है। क्योंकि स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होने से तथा निज–स्वरूप से पाश–राशि का नाश होने से जीवन्मुक्ति है। जैसा कि स्पन्द–शास्त्र में कहा है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।'

अर्थात् उस महा–शक्ति की ही क्रीड़ा यह सम्पूर्ण जगत् है। ऐसा जिसका ज्ञान है वह सारे विश्व को देखता हुआ अर्थात् व्यवहार करता हुआ भी जीवन्मुक्त है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१६॥

इस विषय पर यह प्रश्न होता है कि उस चिदानन्द का कैसे लाभ होता है इसका उत्तर आगे के सूत्र में देते हैं:—

मध्यविकासाच्चिदानन्द लाभः ॥१७॥

मध्य 'शक्ति, के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। सब के अन्दर जो वर्तमान है और जिसके बिना स्वरूप की सिद्धि नहीं होती उसी संवित् भगवती को 'मध्य, कहते हैं। वह 'चिति, अपने स्वरूप से माया–दशा रहते हुये भी अपने स्वरूप को छिपाकर 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता, इस नीति से प्राण–शक्ति–भूमि को स्वीकार करके अवरोह क्रम से देहादि–भूमि में फैलती हुई शरीर में विद्यमान सहस्रनाडियों के मार्ग में फैलीहुई हैं। पलाश-पर्ण के अन्तर्गत मध्य-शाखा-न्याय से वह ब्रह्मरन्ध्र से अधो-वक्र (गुदेन्द्रिय) पर्यन्त प्राण-शक्ति, ब्रह्माश्रय, मध्यनाड़ी–रूप में प्रधानता से स्थित है। उसी सब वृत्तियों का उदय होता है और लय भी होता है। इस प्रकार 'चिति' शक्ति ऐसा स्वरूप होने पर भी पशु-जन के लिये वह प्रच्छन्न-रूप है अर्थात् 'पशु' उसे देख नहीं सकते। जब वह मध्य-भूतसंवित्-भगवती पहले कहे हुये क्रम से सब के अन्तर में विकसित होती है अथवा आगे कहे जाने वाले क्रम से विकास को प्राप्त हो तब उसके विकास से 'चिदानन्द-रूप' का लाभ होता है तदनन्तर जीवन्मुक्ति होती है ॥१७॥

टिप्पणी–१—जैसे सब प्रकार के बाहनादि सम्पत्ति होने पर भी राजा अपनी इच्छा से पैदल चलता है उसी प्रकार संवित् भगवती अपनी इच्छा से परिमित-प्रमाता-रूप आत्म-देह-भूमि को स्वीकार करती है।

२—जिन्हें परतत्त्व ज्ञात नहीं है उन्हें "पशु" कहते हैं।

तथा हि–"**अविज्ञाते परे तत्वे योगाभ्यासो हि निष्फलः।**

विज्ञातेच परे तत्वे योगाभ्यासो हि निष्फलः।

पर-तत्व के ज्ञान न होने पर योगाभ्यास निष्फल है। और पर-तत्व के जान लेने पर योगाभ्यास निष्फल है ॥१७॥ इति।

अब मध्य-विकास की युक्ति आगे के सूत्र से बतलाते हैं:—

विकल्प-क्षय-शक्ति संकोच विकास वाहच्छे-

दाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः ।१८।

विकल्प (संशयग्रस्तज्ञान) का क्षय, शक्ति-संकोच वाहच्छेद आदि अन्त-कोटि का निभालन (साक्षात्कार) शक्ति के विकास के उपाय हैं।

यहाँ मध्य-शक्ति के विकास में विकल्प–क्षयादि 'उपाय' करने होते हैं उनमें यह बात "कि पञ्चकृत्यकारित्व आदि के अनुसार से सर्व-मध्यभूतसंविद् का विकास होता है" यह पहिले प्राय: कहा जा चुका है। अब उपायान्तर कहते हैं। प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि की यन्त्रणा-तन्त्र को तोड़ने से अर्थात् इन साधनों को बिना किये ही विकास प्राप्त कर लेना 'सुखोपाय' है। इस सुखोपाय से स्वस्थिति–प्रतिबन्धक-विकल्प को अकिंचित् चिन्तन के द्वारा अर्थात् चिन्तन छोड़ने के द्वारा शान्त करता हुआ, और अविकल्प-परामर्श से (एकाकार चित्त-वृत्ति से देहादि की मलिनता को दूर करता हुआ, अपने चित्त की प्रमातृता के निभालन में निमग्न (साधक) शीघ्र ही उन्मेष रूप विकासों की तुरीय और तुर्यातीत दशा को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि श्री प्रत्यभिज्ञा में कहा है—

"विकल्प हानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्"

विकल्प की हानि से एकाग्रता प्राप्त होने पर क्रमश:ईश्वर-पद की प्राप्ति होती है।

श्री स्पन्द-शास्त्र में भी कहा है:—

"यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम्"

जब चंचलता शान्त हो जाती है तब परम पद प्राप्त होता है। ज्ञान-गर्भ में भी कहा है:—

विहाय सकला: क्रिया: जननि मानसी : सर्वतो,
विमुक्ति-करण-क्रिया-क्रियानुसृति-पारतन्त्र्योज्ज्वलम्
स्थितैस्त्वदभावत : सपदि वेद्यते सा परा
दशा: नृभिरतन्द्रिता सम-सुखामृत-स्यन्दिनी ।,"

हे मात : मानसी सम्पूर्ण क्रियाओं को सब प्रकार से छोड़कर विमुक्त–करण–क्रिया के अनुसरण रूप पारतन्त्र्य से (उज्ज्वल–साधकों

द्वारा तुम्हारी कृपा से सतत सामरस्यसुखामृत प्रवाह वाली वह 'परा, शीघ्र ही जान ली जाती है। यह उपाय सर्वश्रेष्ठ होने के कारण प्रत्यभिज्ञा में सबसे पहले कहा गया है। शक्ति–सङ्कोचादि, यद्यपि प्रत्यभिज्ञा, में प्रतिपादित नहीं हैं तो भी आम्नायिकत्व होने से प्रसङ्ग वश उन्हें कहते हैं। बहुत से उपाय बताने का यह अभिप्राय है कि कोई भी किसी भी उपाय द्वारा प्रवेश पा सके।

'शक्ति संकोच, वह है कि जिसमें प्रसार–प्राप्त (फैली हुई) इन्द्रियों द्वारा ही आकुञ्चन क्रम से (विषयों से हटाकर ऊपर को मोडना) उन्मुखी करण होता है। जैसा कि कठोपनिषत् की चतुर्थवल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू

स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्

आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन ॥इति॥

इन्द्रियों की स्वयम्भू ने हिंसा की है अतः वे सदैव बाहर को ही देखतीं हैं। अन्दर को नहीं। कोई धीर (पुरुष) बाहर से इन्द्रियों को रोक कर अमृतत्व को अनुभव करता हुआ ब्रह्म–साक्षात् कार करता है। जैसे कछुआ के अङ्ग फैलते और सिकुड़ते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों की वृत्ति है। कछुआ पहले अपने अङ्गों को फैला लेता है तथा त्रास समय सिकोड लेता है। ऐसे ही साधक अपनी वृत्तियों को समेट लेता है। कहा है:—

"तद्पोद्धृते नित्योदितस्थितिः"

उस बाह्य–वृत्ति के संकोच होने पर नित्योदित स्थिति प्राप्त होती है।

शक्ति–विकास, शक्ति के विकास रूप साधन को कहते हैं। इसमें अन्तर शक्ति जो निगूढ़ दशा में है उसका एक साथ सम्पूर्ण इन्द्रिय समुदाय के साथ विकास होना शक्ति का विकास है, जैसे कहा है:—

"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जितः"

निमेषान्मेषु वर्जित-बहिर्दृष्टि, अन्तर्लक्ष्य हो जाती है।

इस प्रकार भैरवीय-मुद्रा की युक्ति से बहिः प्रसरण अनुप्रवेश कहा कहा गया है। भैरवी मुद्रा को खेचरी मुद्रा भी कहते हैं।

भैरवी-मुद्रा के विषय में कहते हैं:—

"मनः स्थिरं यस्यविनावलम्बनं, वायुः स्थिरो यस्य विनावरोधनम्। दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं, स्यात् सैव मुद्रा विमला च खेचरी॥"

अर्थात् बिना अवलम्बन के मन स्थिर हो जाना, विना निरोध के वायु स्थिर हो जाना, विना अवलोकन के दृष्टि-स्थिर हो जाने को विमल खेचरी मुद्रा कहते हैं इसी को भैरवी, एवं शाम्भवी मुद्रा भी कहते हैं:—

इस प्रकार की भैरवीय मुद्रा द्वारा अनुप्रवेश, युक्ति से बहिः प्रसरण को रोका गया है। कक्ष्या-स्तोत्र में कहा है—

सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्। क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाधार एकोऽवभाति॥

अर्थात् चित्त से दर्शन आदि सम्पूर्ण शक्तियों को एक साथ ही अपने विषय में लगाकर मध्य में सोने के खम्भे की तरह हे विश्वाधार! तुम एक ही प्रकाशित होते हो।

श्री कल्लट ने भी कहा है:—

"रूपादिषु परिणामात् सिद्धिः"

रूपादि के परिणाम से संकोच बिकास की सिद्धि होती है। शक्ति का संकोच, विकास निम्न प्रकार का है:—

नासा-पुट में स्पन्दन-क्रम से विकास को प्राप्त सूक्ष्म-प्राण शक्ति द्वारा भ्रू-भेदन-क्रम से प्राप्त किये हुये उर्ध्वकुण्डलिनी-पद, में अद्वैत दशा का पुनः पुनः चिन्तन करना संकोच हैं।

षड्वक्त्र-रूप अधःकुण्डलिनी-पद, में साढ़े तीन फेरे से रहने वाली शक्ति का मूलाग्र, और मध्य, भूमि स्पर्शः आवेश विकास, कहलाता है। विज्ञान भट्टारक में कहा है:—

वह्नेर्विषयस्य मध्ये तु चित्तं सुख-मयं क्षिपेत्।
केवलं वायु-पूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते॥

अर्थात् विकसित अग्नि के मध्य में प्राणायाम अथवा विना प्राणायाम के ही सुख पूर्वक वायुपूर्ण करके चित्त को लगावै तो स्मरानन्द से युक्त होता है। षण्मुखवाली शक्ति की मूलभूमि अग्नि है।

यहां अग्नि, अनुप्रवेश क्रम से संकोच, का हेतु है। और विष्लृ, व्याप्ती, इस अर्थानुगम से विष, स्थान प्रसरण, युक्ति से विकास, का हेतु है।

वाहच्छेद, वाम-दक्षिण-गत प्राणापान का छेद (विच्छेद) है। उसे आगे कहेंगे:—

टिप्पणी:—षण्मुख वाली संकोच का मूल-भूमि वह्नि, है। जो संकोच, का हेतु है। और प्रसरणरूप-व्याप्ति का हेतु विष, (फैलाव) है। इन दोनों के मध्य में सृष्टि ग्रन्थि है। उसी को मध्य नाडी (सुषुम्ना) कहते हैं। इस मध्य नाडि रूप सृष्टि ग्रन्थि में आरोह अवरोह सम्बन्धी विषय से रहित केवल वायु पूर्ण (मध्य नाडी में) स्थित विना क्रम के उच्चरित और स्वर के विना ककार से लकार पर्यन्त कलात्मक प्राण से पूर्ण सुखमय आह्लादात्मक चित्त को भावना-पूर्वक लगावै तो स्मरानन्द से युक्त होता है। क्योंकि कामानन्द सम्पूर्ण-विषयों के विस्मरण का कारण है और वह सम्पूर्ण आनन्द से परे है। इति।

अब बाहच्छेद कहते हैं:—

वाह्योः—वाम और दक्षिण प्राण और अपान का छेद, हृदय की विश्रान्ति पूर्वक ककार हकार आदि का अनच्क अर्थात् व्यञ्जनमात्र ही उच्चारण करने से होता है। इस प्रकार वामदक्षिणगतप्राणापान का विच्छेद ऊपर कही हुई रीति से होने वाले साधन को वाहच्छेद कहते हैं।

ज्ञान गर्भ में कहा है:—

"अनच्क–ककृतायति–प्रसृत–पार्श्व–नाडी–द्वय ।
च्छिदो विधृत–चेतसो हृदयपङ्क जस्योदरे ।
उदेति तव दारितेन्धतमसः स विद्याङ्कुरो ।
य एव परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम् ॥इति॥

अर्थात् स्वर के बिना ककार आदि वर्णों के विस्तार वाले पार्श्वद्वय (इडा, पिङ्गला) के निरोध द्वारा हृदय पङ्कज के मध्य में चित्त को निरोध करने से अन्धतम को हटाने वाला विद्याङ्कुर उदय होता है जो पशु को भी परमेश्वरत्व–पद देने में समर्थ है ।

आदि–कोटि, आदि-कोटि, अर्थात् पहिली अवस्था हृदय है ।

अन्त–कोटि, अन्त-कोटि, अर्थात् अन्तिम अवस्था द्वादशान्त है । आज्ञा चक्र के ऊपर द्वादशान्त है । जो ठोड़ी से ऊपर बाहर अङ्गुल पर है ।

इन दोनों कोटियों में प्राणोल्लास की विश्रान्ति के अवसर पर निभालन होता है ।

चित्त के निवेश द्वारा बार-बार अभ्यास करने को निभालन कहते हैं । जैसा कि विज्ञान–भैरव में कहा है ।

हृदयाकाशे निलीनाक्षः पद्म–सम्पुट–मध्यगः
अनन्य–चेता सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ।

अर्थात् हे सुभगे हृदयाकाश में कमल के मध्य में सब इन्द्रियों के निरोध पूर्वक अनन्य—चित वाला योगी परम—सौभाग्य को प्राप्त करता तथा—

"यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रति–क्षणं क्षीण–वृत्ते वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥

जैसे तैसे यहां वहां अर्थात् किसी भी प्रकार से द्वादशान्त में मन बार बार लगाने से प्रतिक्षण क्षीणवृत्ति वाला योगी विलक्षणता को कुछ दिनों में ही प्राप्त कर लेता है ।

ग्रादि, पद से उन्मेष–दशा का निषेवण ग्रर्थात् बार बार सेवन करना अथवा भजन करने का साधन ग्रहण किया गया है। जैसा कि कहा गया है:—

"उन्मेषः स तु विज्ञेयः, स्वयं तमुपलक्षयेत्"

ग्रर्थात् उन्मेष (विकास) उसे कहते हैं जिसका स्वयं लक्ष्य किया जाय, स्पन्द, में ऐसा ही उन्मेष का लक्षण कहा गया है। इस उन्मेष, शब्द से रमणीय दिव्य विषय सेवन ग्रादि का भी संग्रह कर लेना चाहिये। जैसा कि—

"विज्ञान भैरव में कहा है:—

"जग्धि-पानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत्॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं सं प्रकाशते॥"

ग्रर्थात् खान पान के द्वारा किये हुये उल्लास के रसानन्द के विस्तार से योगी को पूर्णावस्था की भावना करना चाहिये। इस से योगी को महानन्दमय हो जाना चाहिये। गीत ग्रादि विषय के स्वाद के समान सौख्य वाला योगी, तन्मयता के साथ मन की रूढ स्थिति होने से तदात्मता को प्राप्त करता है। और जहां जहां मन की तुष्टि हो, वहां वहां परानन्द स्वरूप का प्रकाश होता है इस प्रकार की धारणा से मन वहीं लगावे। इस प्रकार ग्रौर भी ग्रानन्द–पूर्ण स्वात्म भावना का ग्रनुमान कर लेना चाहिये। यह सब मध्य विकास के उपाय हैं॥१८॥

मध्य-विकास से चिदानन्द का लाभ होता है वही परम योगी की समावेश समापत्ति, ग्रादि पर्याय वाली समाधि, है। वह नित्य प्रकाश रूप है। उसी के विषय में ग्रागे के सूत्र में युक्ति कहते हैं:—

समाधि संस्कारवति व्युथाने भूयो भूयश्चिदैक्या
मर्शान्नित्योदित समाधि लाभः ।।१६।।

समाधि संस्कार व्युत्थान में अर्थात समाधि की उपरामावस्था में बार-बार चिदैक्य के चिन्तन से नित्य उदय वाली समाधि प्राप्त होती है। उसे 'नित्योदित समाधि' कहा है।

पारमेश्वर–समावेश को प्राप्त योगिवर, व्युत्थान में भी, समाधिरस संस्कार के कारण उन्मत्त की तरह आनन्द पूर्वक घूर्णित दशा में रहता हुआ, भावराशि को चिद्गगन में, शरत्कालीन मेघ सदृश, लीन देखता हुआ बार-बार अन्तर्मुख वृत्ति का आलम्बन करता हुआ तथा निमीलन समाधि क्रम (लय-समाधि) से चिदैक्य का चिन्तन करता हुआ समाधि, का ही अनुभव करता रहता है। जैसा कि क्रम सूत्र में कहा है...

"क्रम–मुद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो
भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः"
अभ्यन्तरात् बाह्य–स्वरूपे प्रवेशः आवेश वशात्
जायते; इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्रा–क्रमः"

अर्थात् अन्तः स्वरूप क्रम मुद्रा से साधक, बहिर्मुख समाविष्ट होता है फिर अन्दर से वाह्य-स्वरूप में प्रवेश होता है। यहां क्रियायें आवेश वश होती हैं। इसी को वाह्याभ्यन्तर मुद्रा क्रम कहते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है—सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक संवित्, चक्रात्मक क्रम को बन्द करती है। और जो चौथी तुरीया चिति शक्ति, है वह स्वाधिष्ठित जगत् को अपने में लीन कर लेती है। इस प्रकार की क्रम–मुद्रा से पूर्णाहन्ता रूप अन्तः स्वरूप के द्वारा बहिर्मुख अर्थात् विषयों में व्यापारवान् होता हुआ भी परशक्ति को साक्षात्कार करने वाला परमयोगी हो जाता है। इस क्रम में पहिले वाह्यात् अर्थात् ग्रसन के योग्य विषय समुदाय से परा, चिति भूमि में ग्रसन क्रम से समावेश होता। और फिर 'आभ्यन्तरात्' चिति शक्ति–स्वरूप साक्षात्कृतात्मता से आवेश वशात्, समावेश सामर्थ्य-विशेष से ही वाह्यस्वरूपे

इदन्तानिर्भास इदन्ता से निर्भासित होने वाले सारे विषय समूह में वमन, युक्ति से प्रवेश करती है। इससे चिद् रस की अल्पता का बिस्तार रूप समावेश होता है। इस प्रकार बाह्य, और आभ्यन्तर, दोनों जगह जिसका समावेश होता है वह मुद्रात्म क्रम है। जो मुद्, अर्थात् हर्ष को वितरण करने वाला परमानन्द स्वरूप, अष्ट पाश को द्रवण करने वाला (तोड़ने वाला) विश्व की अन्त: तुरीय सत्ता में लुप्त होने वाला होने से मुद्रात्मा कहा जाता है। वह मुद्रात्मा सृष्टि आदि क्रम का अभिभासक होने से और उसके क्रम का आभासरूप होने से क्रम, कहा जाता है अर्थात् वह प्रकाश्य और प्रकाशित दोनों रूप वाला है ॥१९॥

अब इस समाधि–लाभ का फल अन्तिम–सूत्र में बताते हैं:—

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदा सर्व–सर्ग–संहार–कारि–निज-संविद्देवता–चक्रेश्वरता–प्राप्तिर्भवतीति, शिवम् ॥२०॥

तब प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्ता के आवेश से सदा सर्वदा सर्व सृष्टि को संहार करने वाले निज-संविद् देवता (चिति-शक्ति) के द्वारा चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति होती है। इति शिवम्।

प्रकरणागतप्रसङ्ग में जिस योगी का वर्णन है उस परम योगी को नित्योदित–समाधि, प्राप्त होने पर प्रकाशानन्दरूप (चिदानन्दपूर्ण) महामन्त्रवीर्यात्मिक सब मन्त्रों का जीवनभूत पूर्ण-परा-भट्टारिका-रूप जो यह अहन्ता-रूप, अकृत्रिम-स्वात्मचमत्कार है अर्थात् स्वाभाविक आत्म-साक्षात्कार है उसमें आवेश होने से सदा, काल, अग्नि, आदि चरम-कला-पर्यन्त-विश्व की विचित्र सृष्टि और संहार करने वाला जो निज-संविद्-देवता-चक्र है उसके ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। यह सब शिव स्वरूप ही है। इस संगति से यह उपसंहार है। उसमें जो कुछ भी अनुभव होता है वह सब संवेदन ही (ज्ञान ही) स्वरूप है। उसके अन्तर रूप बिमर्श–मय प्रमाता–तत्त्व हैं। उनके भी विगलित (नष्ट) देहादि उपाधि–संकोच के अभिमान वाले सम्पूर्ण शरीरों में सदाशिवेश्वरत्वसार

रूप से है। इस ईश्वरता का भी श्रीमान् महेश्वर ही एक परमार्थ हैं जो प्रकाश-सद्भाव से आपादित सम्पूर्ण विश्व के चमत्कार रूप हैं। परमार्थिक-प्रकाशावेश के बिना किसी भी पदार्थ की प्रकाशमानता घटित नहीं होती। और वह परमेश्वर स्वतन्त्रसारता के हेतु से अविभाग (एकत्व) विन्दु-रूप से स्फुरित अनुत्तर शिव में ही विश्रान्त होता है। जो अकार से क्षकार पर्यन्त मायीय-शब्द--राशि-परमार्थ-रूपविचार ज्ञान से स्वीकृत, समस्त-वाच्य-वाचक-मय-सम्पूर्ण-जगदानन्द सद्भाव कल्पना से परे, शुद्ध-आनन्द-स्वरूप से परिपूर्ण होने के कारण सब आकांक्षाओं की शून्यता द्वारा आनन्द-प्रसर से भरा हुआ है। अतएव अनुत्तर (पूर्व) अकुल स्वरूप (शिव स्वरूप) अकार से आरम्भ कर के, शक्ति को स्पष्ट रूप में बतलाने वाला हकारकला पर्यन्त जो फैला हुआ विश्व है, और क्षकार जो फैलाव का शमनरूप है उसका अकार-हकार के द्वारा सम्पुटी-करण-युक्ति-प्रत्याहार न्याय से अन्तः (मध्य में) उस विश्व को स्वीकार करता है। ऐसे विन्दु रूप से जो एकत्व वेदनात्मक है, स्फुरित होता है।

टिप्पणी:—हकार आकाश—रूप होने से उसके परे कोई वस्तु नहीं है वह सर्वत्र है और उसमें उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह ह कला, का तात्पर्य है।

शब्द राशि रूप ही यह, अकृत्रिम-स्वतन्त्र नित्यरूप विमर्श, है जैसा कि कहा है—

"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहं–भावो प्रकीर्तितः।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधनः।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च" इति

प्रकाश की आत्म–विश्रान्ति ही अहंभाव, है और वही विश्रान्ति, कहलाती है। क्योंकि उसमें सब अपेक्षाओं का निरोध है। उसे ही स्वातन्त्र्य, मुख्यकर्तृत्व, और ईश्वरता, भी कहते हैं।

यही अहन्ता, सब मन्त्रों के उदय, और विश्रान्ति का स्थान है। इसी के बल से तत्तदर्थं क्रियायें अर्थात् सब क्रियायें होतीं हैं। इसी हेतु से यह, महती वीर्य-भूमि, है जैसा कि कहा है—

"तदाक्रम्य बलं मन्त्रा..................... ? इत्यादि।
.... त एते शिव-धर्मिणः ॥"

इत्यन्तम् श्री स्पन्दे। शिव सूत्रेष्वपि—

महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः (१ उ० २२ सू०) इति।

अर्थात् उस अहन्ता, का आश्रय करके ही मन्त्र, बलवान् होते हैं। ....इत्यादि। ये मन्त्र शिवधर्मी हैं। इस प्रकार स्पन्द-शास्त्र में कहा गया है। और शिव-सूत्रों में भी कहा है कि अहम्रूप, महाह्रद में अनुसन्धान करने से मन्त्र-बल का अनुभव होता है अर्थात् शब्द राशि के स्फुरणरूप परा-अहन्ता-विमर्श, जिसे प्राप्त है उसे मन्त्र-वीर्य का अनुभव होता है।

उस मन्त्र-बीर्यात्मक-पूर्णाहन्ता में आवेश, अर्थात् तन्मयी-करण, होता है। जो देह, प्राण, आदि की निमजनता हो जाने से और देहादि एवं नीलसुख आदि के उस परिपूर्णता रूपी रस में आप्लावन के द्वारा होता है। इस विषय को स्फुट-रूप से बताते हैं:—

देह, नील, आदि जो कुछ प्रथित होता (फैलता) है। तथा जिसे बुद्धि द्वारा जानते, स्मरण करते अथवा संकल्प करते हैं, वहाँ सर्वत्र ही आधारभूत-भित्ति की तरह चिति-शक्ति, भगवती ही स्फुरित है। बिना उसके स्फुरण के किसी भी पदार्थ का स्फुरण नहीं हो सकता यह पहले भी कहा जा चुका है।

केवल वह चिति-शक्ति, इस प्रकार स्फुरित होती हुई भी अपनी माया, शक्ति से अभिभासित-देह-नील आदि के उपराग के कारण, अभिमान-वश, भिन्न-स्वभाव की तरह प्रकाशित हो रही है और ज्ञान, संकल्प तथा अध्यवसाय (बुद्धि-व्यापार) के रूपत्व से मायाप्रमाताओं

द्वारा (भिन्नता का) अभिमान करती है। वस्तुतः वह चिति–शक्ति, एक ही है। जैसा कि कहा है:—

"या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थ–क्रम–रूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥इति॥
तथा मायाशक्त्या विभोःसैव भिन्न संवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥इति॥

यह प्रतिभा जो भिन्न-भिन्न पदार्थ क्रम में प्रतिभासित हो रही है वह अक्रम अनन्त चिद्–रूप प्रमाता महेश्वर ही है। तथा—

परमात्मा की शक्ति द्वारा भिन्न रूप से विषयों को ग्रहण कराने वाली ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय आदि नामों से कथित वही माया, शक्ति है।

चिति, शक्ति के विकास में ही क्रम आदि हैं महेश्वर में नहीं हैं।

इस प्रकार यह चिति, सब दशाओं में एक ही है। स्फुरित होने वाली उस शक्ति को यदि आश्रय रूपी युक्ति से प्राप्त किया जाता है तो योगी को ईश्वरता, अर्थात् परभैरवता, प्राप्त होती है। जो पूर्व कथित युक्ति आवेश, करणोन्मीलन और निमीलन क्रम के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के आविर्भाव तिरोभाव की रीति से सब का यथा–स्थान सब में लय करने वाला अर्थात् सब का सब मय होने के कारण उन उन विषयों के संहार आदि में भी सदा सर्व संहार–कारी सहज संविद् देवताचक्र, रूप अमायीय मरीचि पुञ्ज है। उसी प्रकाशपुञ्ज में ईश्वरता का साम्राज्य है। उसको परभैरवता कहते हैं। उसकी प्राप्ति योगी को होती है। जैसा कि कहा गया है:—

'यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन भोक्तृतामेति हतःचक्रेश्वरो भवेत ॥इति॥

जब एकत्र स्थिति, उत्पत्ति, और लय को नियमन करता हुआ भोक्तृता को प्राप्त करता है तब चक्रेश्वर हो जाता है। इसे बतलाते हुये कहते है:—

'एकत्रारोपयेत्सर्वम्·····················॥इति॥

सबको एकत्र आरोपित करे। चिति सामान्य स्पन्द भूमि है और उन्मेषात्मा है। तस्य इति अनेन पुर्यष्टकेन संरुद्ध············। इति

पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) से घिरा हुआ है इत्यादि से आरब्ध पुर्यष्टक का ही विचार करना चाहिये। जैसा कि विवरण कार ने कहा है वैसा नहीं है। 'एकत्र सूक्ष्म, स्थूल, शरीर में ऐसी व्याख्या की है। यह व्याख्या ठीक नहीं है। हमने भी स्तुति में लिखा है।

"स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः।
संवित्तिदेवताचक्रजुष्टः को ऽपि जयत्यसौ॥इति॥

चिति-चक्रों, का चक्रवर्ती महेश्वर स्वतन्त्र है। संवित्ति देवताचक्र सेवी (संवेदन ज्ञान रूप) वह देवता प्रकृष्ट रूप से वर्तमान होता है। इति, शब्द उपसंहार में है। जो कुछ कहा गया है वह सब शिव-स्वरूप है। क्यों कि वह शिव प्राप्ति का हेतु है। और शिव से ही प्रसूत है इसलिये अभिन्न होने के कारण सब शिव-मय, है। इति शिवम्।

'देह-प्राण-सुखादिभिः प्रति-कलं संरुध्य-मानो जनः,
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम्।
मध्ये बोध-सुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमम्,यः,
पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात् स एकः शिवः॥
येषां वृत्तः शांकरः शक्तिपातो,
येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः।
शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रत्यभिज्ञा,
मुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः॥

प्रति-क्षण, देह-प्राण-सुखादि के द्वारा बँधे हुये मनुष्य पूर्णानन्दघन इस माहेश्वरी चिति, को नहीं जानते। और ज्ञान-समुद्र में फेन-पिण्ड की तरह इस विश्व को श्री गुरू के उपदेश से जो देखता है वह साक्षात् शिव, ही है।

जिन मनुष्यों को शक्ति–पात हुआ है और अनभ्यास के कारण जो तीक्ष्ण तर्क करने में अयोग्य हैं। वे लोग ईश्वर प्रत्यभिज्ञा को नहीं जान सकते। उन्हीं के लिये यह परतत्त्व का उपदेश किया गया है। इति श्री मन्महामहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त–पाद–पद्मोपजीवी श्रीमान् राजानक क्षेमराजाचार्य का "प्रत्यभिज्ञा हृदयम्,, ग्रन्थ समाप्त हुआ।

॥ शुभमस्तु ॥

षट् त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहः

अर्थात्

(छत्तीस तत्वों का समुदाय)

इस स्वतन्त्र "शिवाद्वैत,, दर्शन में 'परमेश्वर, को 'स्वतन्त्र, चिद्घन, संविद् स्वभाव का तथा अपनी 'स्वतन्त्र शक्ति, के द्वारा निरन्तर शिव से लेकर धरणी पर्यन्त तत्तद भुवनभूत–तत्त्व रूप से क्रीडादि करने वाले होने के हेतु से 'पञ्चकृत्य, करने वाला कहा गया है।

वस्तुतः क्रम–रहित होने पर भी वह 'परमेश्वर, विश्व–सृष्टि में आभासन–सार–मात्र से 'पारमार्थिक, कार्य–कारण–भाव वाले क्रम को भी प्रकट करते हुये और स्वयं वाणी का विषय न होने पर भी स्वेच्छा से अपने ही आश्रय तत्तत् 'शिवादि--तत्त्व, नामों को अभिभासित करते हैं। ऐसा होने पर भी, छत्तीस--तत्त्व--मय–कुल--स्वरूप--परामर्श-अखण्ड–रूप–द्वारा, विश्व–को पूर्ण करने वाली, अपने--स्वचमत्कार-परामर्श-वालेविमर्श--सार–वाली, अपूर्व–आनन्द–घन–अवस्था का त्याग नहीं करते हैं। इसप्रकार वास्तविक अभिप्राय के ज्ञान के लिये कोई महामहेश्वरपरमेश--शक्ति-पात द्वारा श्री गुरू से अनुगृहीत (राजानक आनन्द) उस तत्त्व–क्रम--प्रक्रिया को इक्कीस आर्या--छन्दों द्वारा वर्णन करते हैं। 'यदयमित्यादिः—

यदयमुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टम्।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्व–मुच्यते तज्ज्ञैः ।।१।।

अर्थ—सर्व प्रथम भगवान् परमेश्वर अपने प्रकाश--घन--स्वात्मैक्य-ब्रह्म--रूप में अवस्थित, 'विश्व, को 'दर्पण--नगर--वत्, प्रकट करने की 'स्वेच्छा, से उस इच्छा वाली अवस्था को 'शिव--तत्त्व, रूप से प्रकाशित करते हैं। जो पञ्च–शक्ति से पूर्ण तथा स्वतन्त्र होने के कारण चिदादि-

प्राधान्य–क्रम से शुद्धाध्व में तत्त्व–सृष्टि को प्रकाशित करते हैं। उस प्रकाश–घन–'परम–शिव, से माया अविद्या आदि का संवित्, भाव-अभाव आदि विकल्पों का उपहृत (नष्ट) होने के कारण 'विश्व, की उत्पत्ति, संहार आदि में उन का केवल 'स्वातन्त्र्य, ही मूर्धाभिषिक्त (प्रधान) है। क्यों कि अनन्त–शक्ति-–समुदाय को उस ने अपने अन्दर आच्छादित कर रक्खा है। तत्तद् रूप स्वीकार करने में जो कि आगे कहा जायगा 'स्वातन्त्र्य' का त्याग न होने के कारण पूर्व–स्वभाव का त्याग नहीं (हो सकता) है।

इच्छा सैव स्वच्छा सन्तत समवायिनी सती शक्तिः।
स चराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निलीनस्य ॥२॥

अर्थ—उस महेश्वर के स्वरूप से अभिन्न, स्वतन्त्र--इच्छा-–शक्ति ही उद्भव को प्राप्त विश्व की स्वान्तर्लीनता होने से बीज-–भूत--शक्ति तत्त्व को प्राप्त होती है। 'शक्ति, शक्ति-–मान् का धर्म है और वह उस से अभिन्न है। अन्य दर्शन के समान उस में व्यतिरेक (भेद) नहीं है। अन्य दर्शन में शक्ति को शक्तिमान् से भिन्न माना जाता है। जैसा कि मीमांसा में है वैसा भेद यहाँ नहीं है। नैष्कर्म्य (क्रिया रहित) होने के कारण 'इच्छा, को ही यहाँ स्वच्छ-–रूप से कहा गया है। इसी को हृदय, विमर्श, सार, और उर्मी आदि नामों से भिन्न भिन्न दर्शनों में कहा गया है। 'परमेश्वर, का ऐश्वर्य जब बाहर प्रकट होता है तब वह पूर्णाहन्ता (एकोऽहम) के चमत्कार वाले तारतम्य द्वारा 'शक्ति, दशा को प्राप्त होता है। यहाँ पर आनन्द-–शक्ति का प्राधान्य रहता है ॥२॥

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समा–च्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रह-निरतः सदा-शिवोऽभिहितः ॥३॥

अर्थ—उस परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से प्रकाशित विश्व--विशुद्ध (अहम्) की संविद् मात्र का आधार होने के कारण अपने में ही समुल्लास (विकास) करने से सद् नाम वाली सदा--शिव-–तत्त्वावस्था होती है। और उस में धूमिल-–चित्रावस्था की तरह इदमंश स्फुट नहीं

रहता है इच्छा, प्रधान रहती है। अतः वह 'सदा--शिव, भावी समस्त भाव--राशि को सम्यक् बाहर प्रकाश करने की इच्छा रूप कीड़ा में रसिक होने से अनुग्रह में निरत होकर उस भूमि को ग्रहण करते हैं। इसलिये श्लोक में 'निवसन्, कहा गया है ॥३।

विश्वं पश्चात् पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः।
सा भवति शुद्ध–विद्या येदन्ताहन्तयो–रभेद–मतिः ॥४॥

अर्थ इस प्रकार क्रम का आभासन होने से शुद्ध--संवित्--मात्र अधिकरण में अर्थात् 'विद्या--तत्त्व, में स्फुट--रूप से परामृश्यमान--विश्व का अहमंश में अभिषेचन होने से वही परमेश्वर सदाशिव 'ईश्वर, दशा को प्राप्त होता है। 'ईश्वर, में विषय समुदाय का स्फुट अभिभासन होने से 'ज्ञान–शक्ति, का इस में उद्रेक है। अन्तर्दशा में 'ज्ञान–शक्ति, का उद्रेक 'सदाशिव, है और वहिर्भावपरक उद्रेक 'ईश्वरावस्था, कही जाती है यही इन दोनों दशाओं का विशेष है। जैसे तराजू में समान रूप से रक्खी हुई वस्तुओं में तुल्यता रूप अभेद का ज्ञान होता है इसी तरह समधृततुलापुट न्याय, से शुद्ध–विद्या–तत्त्व, इदन्ता और अहन्ता में अभेद का बोध कराता है। इसी को शुद्ध–विद्या–तत्त्व कहते हैं। यहाँ पर विश्व--का स्फुट--ज्ञान होने से क्रिया--शक्ति, प्रधान है। इन उक्त पाँचों (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध--विद्या;) में शुद्ध 'स्वातन्त्र्य, ही भिन्न–भिन्न वैचित्र्य से स्फुरित होता है। इसी को शुद्धाध्व कहते हैं ॥४॥

माया–विभेद–बुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ॥५॥

अर्थ—अशुद्धाध्व में 'परमेश्वर, स्वात्म--प्रच्छादन--क्रीडा--रूप से अपने को छिपाने की लीला से मन्त्र--महेश्वर--रूप अघोर--भट्टारक–भूमि को ग्रहण कर के दुर्घट–सम्पादन--सामर्थ्यवाली 'माया–शक्ति, से स्वतः तथा परस्पर अन्योन्य जीवों के योग की सिद्धि के लिये कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जड़ अजड़ (चेतन) वर्ग को क्रम तथा अक्रम से प्रकाशित

करते हैं। भिन्न-भिन्न-प्रथा-रूप-मायीय-मल से स्वाङ्ग-सदृश जड-वेद्य वर्ग में अनेक-प्रकार की भेदवाली बुद्धि ही 'माया, नामक तत्त्व है। समुद्र की तरङ्गों का वैभव जैसे अथाह और अपार है परन्तु तट से रुका रहता है इसी प्रकार माया-तत्त्व से ईश्वर का निरर्गल स्वच्छन्द स्वातन्त्र्य रुका हुआ सा दिखाई देता है ।।५।।

स तया परिमितमूर्तिः संकुचित समस्त-,
शक्तिरेष पुमान् ।
रविरिव सन्ध्या-रक्तः ,
संहृतशक्तिः स्वभासनेप्यपटुः ।।६।।

अर्थ—अविकारी स्वरूप उस चिदात्मा की स्व-शक्ति के संकोच पूर्वक शक्ति-दारिद्रय प्राप्त हुये 'अणु, इस अपर नाम वाले जीव की पुरुष संज्ञा होती है। सब शक्तियों का संकोच होने से परिमित-स्वरूप-वाला सन्ध्या-रक्त सम्पूर्ण किरणों के प्रसार से रहित सूर्य की तरह वह पुरुष स्वात्म ऐश्वर्य का प्रत्यभिज्ञान करने में भी असमर्थ विचित्र तथा भिन्न भिन्न योनियों में संचार करता है। जब शक्ति-पात के क्रम से विद्या से बोधित ऐश्वर्य वाला अपने अङ्ग की तरह अपने में विश्व को देखता हुआ प्रत्यभिज्ञान (स्मरण) करता है उस समय 'शिव, भाव को प्राप्त करता है ।।६।।

सम्पूर्ण-कर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तय-स्तस्य ।
संकोचात् संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम् ।।७।

अर्थ—अन्य-शक्तियों को अपने अन्दर छिपाने वाली स्वातन्त्र्य-शक्ति से अवियुक्त होने क कारण परमेश्वर अनेक-शक्ति वाले हैं। संकोच के ग्रहण से ही वे सब शक्तियाँ संकुचित होकर कला आदि पञ्चक-रूप से प्ररोह (प्रादुर्भाव) को प्राप्त होती हैं। उन शक्तियों के नाम ये हैं:—

१ सर्व कर्तृता २ सर्वज्ञता ३ तृप्ति ४ नित्यता ५ स्वातन्त्र्य। ये पाँचो शुद्धाशुद्ध विचार से दो दो प्रकार कीं हैं। परमेश्वर को विषय

करने से ये शुद्ध कहलाती हैं तथा जब ये संसार को विषय करतीं हैं तब अशुद्ध--पद से कहीं जातीं है ॥७॥

तत्सर्वकर्तृता सा, संकुचिता कतिपयार्थमात्र-परा।
किंचित् कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम् ॥८॥

अर्थ—गोपित-स्वरूप होने से निरुद्ध--शक्ति परमेश्वर की सर्वकर्तृता शक्ति प्राणादि--परिमित प्रमातृत्व में किञ्चित्--कर्तत्व के आकलन (परिचय) द्वारा नीचे की ओर प्रक्षेप (प्रवाह) होने से कला-तत्त्वात्मकता को प्राप्त होता है। जिससे आधीन होकर जीव किञ्चित्-कर्तृत्वता को प्राप्त होता है सर्वकर्तृत्व को नहीं ॥८॥

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमित-तनुरल्प-वेद्य-मात्र-परा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती, विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार जब परमेश्वर की सर्वज्ञता-शक्ति संकोच को ग्रहण करती है तब किंचित्ज्ञेय-मात्र होकर ज्ञानोत्पादन से 'विद्या-तत्त्व, नाम वाली होती है। विद्या से ही 'बुद्धि, रूपी दर्पण में प्रतिभासित भाव जाने जाते हैं। गुणों से संकीर्ण होने के कारण उस सर्वज्ञता--शक्ति के विवेक में असमर्थ हो जाने से किंचित् ही प्रकाश होता है। इसलिये विद्या ही अर्थ-विवेक का कारण है (अन्य कई ग्रन्थों में इस प्रकार के विद्या--तत्त्व को अविधा ही कहा गया है) ॥९॥

नित्य-परिपूर्ण-तृप्तिः, शक्तिः तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती, सततममुं रागतत्त्वतां याता ॥१०॥

अर्थ—परमेश्वर की नित्य परि पूर्ण तृप्ति नाम की शक्ति परिमित भाव को जब प्राप्त होती है। जहां कहीं जिस किसी वस्तु में ग्रहण करने के लिये अभिमत अभीष्ट में कुछ मुझे प्राप्त हो, इस सामान्य आसक्ति से प्राप्त होने वाला राग, तत्त्व कहलाता है। विशेष आसक्ति इसी का पल्लवित रूप है। जो पहले कहे हुये कला और विद्या तत्व हैं उनके किंचित् भाग में राग तत्व निमित्त है ॥१०॥

या नित्यतास्य शक्ति, र्निष्कृष्य निधनोदय-प्रदानेन।
नियत परिच्छेद करी, क्लृप्तास्यात्कालतत्त्व रूपेण ॥११॥

अर्थ —काल से रहित चिदात्मा की नित्यत्व शक्ति, नीचे की ओर उन्मुख अर्थात् संसार को विषय किये हुये, कार्य से असम्बद्ध और कर्ता, को अपने आधीन रखने के कारण जीव को कला, त्रुटि, निमेष, आदि रूप से आभासित काल, के साथ संयुक्त करती है। उसे ही काल तत्व कहा जाता है। जिससे यह (अणु) जीव, भूतादि क्रिया क्रम से युक्त होकर काल के आधीन होता है ॥११॥

यास्य स्वतन्त्राख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममु नियमयन्त्यभून्नियति ॥१२॥

अर्थ—पर प्रमाता परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही संकुचित होता हुआ नियति तत्व को प्रकाशित करता है। क्योंकि कार्याकार्य में नियम का आधान करने से विशिष्ट कार्य में विशिष्ट कारण का आधान करना चाहिये अनियत, में नहीं। इससे कला आदि कंचुक से आवृत यह जीव, शक्ति दारिद्रय का अनुभव कर के कला आदि द्वारा स्व वैभव का किञ्चिद् अंश ग्रहण कर के पशु कहा जाता है ॥१२॥

इच्छादि त्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य संकुचद् रूपा।
संकलितेच्छाद्यात्मक सत्वादिक साम्य रूपिणी तु सती ॥१३॥
बुद्धिश्यादि सामरस्य स्वरूप चित्तात्मिका मता प्रकृतिः।
इच्छास्य रजोरूपा हंकृतिरासीदहं प्रतीति करी ॥१४॥

अर्थ - उस महेश्वर की शान्ता नाम की जो शक्ति हैं वह अक्षुब्धावस्था में इच्छादि शक्तियों को अपने गर्भ में रखने के कारण समष्टि रूप वाली, कही जाती है। और वही परिमितावस्था को जब ग्रहण करती है तब गुणों की अविभागावस्था वाली सम्यावस्था कही जाती है। गुणों का इच्छादि (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) शक्तित्रय से आरम्भ होने के कारण त्रित्व होता है। सत्व, रज और तम को त्रित्व कहते हैं।

जिस त्रित्व में प्रक्षोभ होने से प्राकृतिक सृष्टि होती है। उस चिद् रूप में बुद्धि, अहंकार, मन साम्यावस्था का आश्रय करते हैं। इस तत्व क्रम के प्रसर (फैलाव) में शिव से लेकर सकल पर्यन्त प्रमातृ वर्ग में ज्ञान और क्रिया शक्ति ही मुख्य-साधन हैं। वही ज्ञान और क्रिया संकुचित रूप में ईश्वर और शुद्ध विद्या होते हैं और वही संकुचित होने पर विद्या और कला नाम वाले होते हैं। अन्त्यन्त संकोचावस्था प्राप्त होने पर बुद्धि और कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। क्रिया की संकोच की सीमा में भूत सूक्ष्म हैं। ज्ञान की संकोचावस्था बुद्धि है। क्रिया की संकोचावस्था कर्मेन्द्रियाँ हैं। अणु (जीव) की रजोगुण परिणाम वाली इच्छा शक्ति है। अह ऐसा अभिमान करने वाली शक्ति को अहंकार, कहते हैं। इच्छा का संकोच नहीं होता वह रजो रूप होने के कारण दोनों को समान रूप से प्रेरणा देती है ॥१३-१४॥

ज्ञानापि सत्व रूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।
तस्य क्रिया तमोमय मूर्तिर्मन उच्यते विकल्प करी ॥१५॥

अर्थ—सत्व गुण का परिणाम, ज्ञान शक्ति है वही अर्थ को निश्चय करने वाला बुद्धि तत्व है। तमः परिणाम वाली क्रिया शक्ति है जो कि विकल्पात्मक होने के कारण मनस्तत्व कहलाती है ॥१५।

वामादि-पञ्च-भेदः स एव संकुचित-विग्रहो देवः
ज्ञान क्रियोपराग प्राधान्याद्विविध-विषयरूपोऽभूत ॥१६॥

अर्थ—वही महेश्वर क्रीड़ादि-तत्व से युक्त होकर वाम-देवादि पञ्च-मूर्ति (सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष, ईशान) रूप होने के कारण संकुचित होकर, ज्ञान-शक्ति के उपरञ्जन की प्रधानता से ज्ञानेन्द्रिय और तद्विषयशरीरता को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार क्रिया-शक्ति रूप उपाधि की प्रधानता से कर्मेंद्रियों और उनकी व्यापारवत्ता को ग्रहण करते हैं। इस तरह शक्ति-पञ्चक के प्राधान्य से इन्द्रियों का पञ्चत्व जानना चाहिये ॥१६॥

श्रोत्रं चक्षु स्पर्शन जिह्वा-घ्राणानि बोध करणानि ।
शब्द-स्पर्शौ रूपं रस गन्धौ चेतिभूत-सूक्ष्मानि ॥१७॥

अर्थ—श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, जिह्वा, नासिका, ये ज्ञानेन्द्रिय हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तत्मात्रा हैं ॥१७॥

अयमेवाति निकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः ।
गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्च भूतानि ॥१८॥

अर्थ—अत्यन्त संकोच, को ग्रहण करने से 'अविदरूपता,, का प्रकाश करके आकाशादि पञ्च-भूति बनते हैं ॥१८॥

श्रोत्रादि करण वेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ।
वचन करौ वागासीत्पाणिः स्यात् करण-भूत आदोन॥१९॥

अर्थ—शब्दादि ज्ञान कि साधन श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वचन आदि क्रिया के साधन पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥१९॥

गमन-विसर्गानन्द, त्रितये पादादिकं करणम् ।
गन्धवती भूमिः स्या,दापः सांसिद्धिकद्रवास्तेजः ॥२०॥
उष्ण स्पर्शमरूप स्पर्शो वायुरम्बरं स शब्दम् ।
षट्त्रिंशत्तत्वमयं वन्दे कौलं कुलातिगं शम्भुम् ॥२१॥

अर्थ—गमन विसर्ग आनन्द ये पादादिक में वर्तमान कर्मेन्द्रियों के करण हैं । आदि से पायु और उपस्थ भी ग्रहण कर लेना चाहिये । गन्ध, पृथिवी का लक्षण है । स्वाभाविक 'द्रव, जल का लक्षण है । उष्ण-स्पर्श तेज का, रूप-रहित-स्पर्श, वायु का, और 'शब्द, आकाश का लक्षण है । ये पञ्चतत्त्वों के मुख्य गुणों के निर्देश हैं । तत्त्वों कि उत्तरोतर क्रम में भूमि व्याप्य है अर्थात् व्यापक के अधीन है । जल से लेकर शिव पर्यन्त पैंतीस तत्त्व व्यापक हैं । इस तरह भूत-सृष्टि, 'पृथ्वी, में व्योमादि गुण अनुगत हैं । परम-शिव-तत्त्व सर्वत्र अनुगत होने से 'विश्वमय, और उससे उत्तीर्ण (अलग) भी है । इस प्रकार यामल-कौल-स्वरूप ही भक्तों के समावेश के योग्य है । इस प्रकार वन्दना करते हुये 'उपसंहार, के लिये निर्देश किया गया है । इति शिवम् । २१॥

॥ इति षट् त्रिंशत्तत्व सन्दोहः ॥

यह षट् त्रिंशत्तत्व सन्दोह नामक ग्रन्थ श्री मद् राजानकानन्दाचार्य विरचित विवरणयुक्त समाप्त हुआ ।

पराप्रावेशिका

श्री मन्महामहेश्वराचार्यवर्य–श्री क्षेमराजाचार्यविरचिता

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः

इस शास्त्र में परमेश्वर, को प्रकाश-स्वरूप, कहा गया है। वह प्रकाश, विमर्श-स्वभाव वाला है। अब प्रश्न होता है कि विमर्श क्या है ? उसे कहते हैं कि जो विश्वाकार, विश्वप्रकाश, विश्वसंहार रूप से अकृत्रिम अहमाकार, का स्फुरण है वही विमर्श, है। यदि वह प्रकाश, निर्विमर्श हो तो वह अनीश्वर, और जड़ हो जायगा। वह विमर्श, विश्वाकार, से सृष्टि में और विश्वप्रकाश, से स्थिति में और स्वात्म-साक्षात्कार रूप के द्वारा संहरण से संहार में पूर्णाहन्ता -चमत्कार स्वरूप है।

इसी विमर्श, को चित् चैतन्य, स्वाभाविकरूप से प्रकाश होने वाली परा-वाक्, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का मुख्य 'ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द, इत्यादि शब्दों द्वारा आगमों में कहा गया है।

टिप्पणी—इस शैवशासन शास्त्र में संवित्प्रकाश, रूप का विमर्श-प्राधान्य, ही अनेक आगमों में वर्णन किया गया है। वही भिन्न-भिन्न आगमीयभाषाओं द्वारा कहा गया है। जैसे-चैतन्य विमर्श ही आत्मा का मुख्य-स्वरूप है, इत्यादि धर्मवाची शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है।

'स्वरसोदित-परावाक्, का अर्थ है कि जो विश्व, को प्रत्यवमर्श (ज्ञान-विशेष) द्वारा अभिलपन (व्यक्त) करती है वह वाक्, है। वही वाक्, अन्य परामर्शों की आधार-भूता है और पूर्ण है इसी हेतु से 'परा-वाक्, कही जाती है। तथा उसका प्रसर अनिरुद्ध (निरोध रहित) होने के कारण और अहम्, इस परिपूर्ण चिद्रूप, से सदैव उदित रहने के कारण स्वरसोदिता, है। अतएव उसे स्वरसोदिता परा-वाक्, कहा

गया है। स्वातन्त्र्यम्-स्वातन्त्र्य, पद संयोजन-वियोजनादि-रूप है। अपने से बहिष्कृत हुये इदन्ता-पद, को अपने से संयोग कराता अर्थात् मिलाता है और संयोग करके भी वियुक्त करता है अर्थात् शून्यादि-भूमिका में न्यग्भाव को प्राप्त कराता है। इस प्रकार के लक्षणत्व के के कारण जड़ता, से विलक्षणता का आधायी (आधान करने वाला है।

ऐश्वर्यं, ऐश्वर्य, विश्व के सर्गादि में अनन्यापेक्षित्व, है अर्थात् उसको माया-गर्भाधिकारी ब्रह्मादिक की तरह परेच्छा-वश-वर्तित्व, और नियतिनियन्त्रणावत्व, नहीं है। विश्व के सर्गादि में उसे किसी की अपेक्षा नहीं है।

कर्तृत्वम्, जो अलौकिक कार्य-कारण-भाव, स्वान्तः—प्रकाशैक्य के द्वारा स्थित, शिवादि-पृथिव्यन्त-विश्व को इदन्ता द्वारा उन्मीलन (प्रकट) करना है उसे ही कर्तृत्व, जानना चाहिये। जैसे कि योगी-जनों को अनुभव होता है। स्फुरत्ता, स्फुरण-सम्बन्ध ही स्फुरत्ता है। यह स्फुरत्ता घटादि पदार्थों, को नहीं होती। ऐसा होने पर सदैव सभी के घटादि, प्रस्फुरित हो सकते हैं। अथवा किसी के भी नहीं। इस प्रकार सब की सर्वज्ञता अथवा उसका विपर्यय (उलटा) हो सकता है। अतः मेरी स्फुरता होती है अथवा मेरा स्फुरण है यह अर्थ है जिसका सम्बन्ध परमेश्वर, है। सार, अतुच्छ-रूप, को सार कहा है वह विमर्श-शक्ति वाले परमेश्वर का ही हैं।

हृदय, विश्व के प्रतिष्ठापन के स्थान होने के कारण उस परमेश्वर को हृदय, कहा गया है। स्पन्द, अचल, चित्प्रकाश, परमेश्वर की चलता का आभासन ही स्पन्द, है। जो उस अनतिरिक्तत्व में भी अतिरिक्तता को मानों आभासित कर रहा हो इस प्रकार विश्व को आभासित करता है।

अतएव अकृत्रिम अहम्, सतत्वस्वयं प्रकाशरूप परमेश्वर, पारमेश्वरी शक्ति द्वारा शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जगद्रूप से स्फुरित और

प्रकाशित होता है यही उसका जगत्कर्तृत्व और अजडत्व है। और जगत् का कार्य भी उसी के आधीन प्रकाशित होता है इस प्रकार प्रकाश रूप महेश्वर से जगत् अभिन्न है।

भेद ज्ञान का विषय जगत् को मानने पर अप्रकाशमान होने से प्रकाशन का प्रयोग होने के कारण कुछ भी नहीं हो सकता। अतएव इस जगत से उस भगवान् का प्रकाशात्मक रूप कभी नहीं छिपता। इस प्रकाश से प्रतिष्ठा प्राप्त कर के यह जगत् अपने प्राण भूत परम तत्व का निरोध कैसे कर सकता है और निरोध करके अपनी स्थिति कैसे रख सकता है। अत: इस वस्तु का यह साधक और बाधक प्रमाण है ऐसा अनुभवात्मक साधक बाधक प्रमातृत्व रूप से इसका सद्भाव है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि उसके सद्भाव में क्या प्रमाण है? उसमें वस्तु का सद्भाव ही मानना योग्य है ऐसे स्वभाव में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि प्रश्न कर्ता रूप से पूर्व सिद्ध महेश्वर का स्वयं प्रकाशत्व ही सब का स्वसंवेदन, सिद्ध है। (अपने ज्ञान के लिये किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है) तथा प्रमाण भी जिसके आश्रय से प्रमाण होता है उस प्रमाण को परमेश्वराधीन शरीर प्राण नील सुखादि को अतिक्रमण कर के वेत्ता एक रूप से सदा भासमान समस्त ज्ञान के आधार रूप, सिद्ध होने पर अभिनवार्थ प्रकाश (जड़रूप को प्रकाश करने वाले) तुच्छ प्रमाण का क्या उपयोग हो सकता है। अर्थात प्रमाण से उसका ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार शब्द राशि मय पूर्णाहन्ता (अहम्) परामर्श सार होने के हेतु से परम शिव ही छत्तीसतत्वात्मक प्रपञ्च रूप वाले हैं।

छत्तीस तत्व यह हैं—

१ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ शुद्ध-विद्या, ६ माया, ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल, ११ नियति, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहंकार, १६ मन, १७ श्रोत्र, १८ त्वक्, १९

चक्षु, २० जिह्वा, २१ घ्राण, २३ पाणि, २४ पाद, २५ पायु, २६ उपस्थ, २७ शब्द, २८ स्पर्श, २६ रूप, ३० रस, ३१ गन्ध, ३२, आकाश ३३ वायु, ३४ अग्नि, ३५ जल, ३६ पृथ्वी ।

अब इन तत्वों के पृथक पृथक् लक्षण कहते हैं ।

(१) इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक, पूर्णानन्द–स्वरूप परम–शिव, ही शिव तत्व हैं । अर्थात् महेश्वर ही शिव, हुये हैं ।

(२) जगत की रचना करने वाले परमेश्वर का प्रथम स्पन्द-रूप जो उसकी इच्छा है उसे ही शक्ति, कहते हैं क्योंकि वह शक्ति तत्व अप्रतिहत इच्छा वाला है ।

(३) सद् रूप अंकुरायमाण जगत की जो प्रथमावस्था है जो अपने स्वरूप में अहन्ता, से आच्छादन करके स्थित है उसे सदाशिव, कहते हैं । अर्थात अहन्ता से इदन्ता को आच्छादन करने वाले तत्व को सदाशिव कहते हैं ।

(४) अंकुरित जगत को अहन्ता, द्वारा स्फुटरूप से जो ग्रहण किये हुये हैं उसे ईश्वर, कहते हैं ।

(५) अहन्ता, और इदन्ता, (जगत) की एकता का ज्ञान जिससे होता है उसे शुद्ध विद्या तत्व, कहते हैं ।

(६) स्व-स्वरूप भावों में भेद प्रथा रूप माया तत्व है ।

(७) जब परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी माया शक्ति द्वारा स्वरूप ग्रहण करके संकुचित ग्राहकता, को प्राप्त करते हैं तब उनकी पुरुष संज्ञा होती है । पुरुष (अर्थात जीव) ही माया से मोहित होकर कर्म बन्धन वाला संसारी (जीव) कहा जाता है परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी इसी (जीव) को मोह होता है परमेश्वर को नहीं । जैसे इन्द्रजाल करने वाला अपनी इच्छा से ही दर्शकों की भ्रान्ति के लिये अपना इन्द्रजाल प्रकट करता है । परन्तु स्वयं मोहित नहीं होता इसी प्रकार परमेश्वर को अपनी माया से मोह नहीं होता । (बाजीगर और दर्शकों में जो अन्तर है वही जीव, और शिव, में है) । वस्तुत : वह'

जीव विद्या से अभिज्ञापित-ऐश्वर्य–युक्त, चिद्-घन, मुक्त, परम–शिव, ही है। इस की सर्व-कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ असंकुचित होते हुये भी संकोच–ग्रहण कर लेने से कला, विद्या राग, नियति, रूप से होती है।

(८) उस 'पुरुष, की किञ्चित्–कर्तृता को 'कला, कहते हैं।

(९) किञ्चित्-ज्ञान के कारण को 'विद्या, कहते हैं।

(१०) विषयों में प्रीति राग है।

(११) प्रकाशित और अप्रकाशित-स्वरूप वाले भावों के क्रम का जो अविच्छेदक एवं भूतों का जो आदि है उसे 'काल, कहते हैं।

(१२) मेरा यह 'कर्तव्य, तथा यह 'अकर्तव्य, है इसके नियमन हेतु 'नियति, है।

यह पाँचों (जो ऊपर कहे गय हैं) 'जीव, के आवरण करने वाले होने के कारण 'पञ्चकञ्चुक, कहलाते हैं।

(१३) महत् से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का मूल कारण 'प्रकृति, है और यह प्रकृति सत्व, रज, तम, की साम्यावस्था से अविभक्त-रूप वाली है।

(१४) सत्वप्रधान और स्वच्छ होने के कारण 'बुद्धि, में प्रतिविम्ब-ग्रहण करने की योग्यता है। इसी निश्चिय करने वाली और विकल्प-प्रतिविम्ब को धारण करने वाली शक्ति को 'बुद्धि, कहते हैं।

(१५) मेरा यह है मेरा यह नहीं है इस अभिमान के साधन को 'अहंकार, कहते हैं।

(१६) संकल्प विकल्प के साधन को 'मन, कहते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों को अन्तःकरण कहते हैं।

शब्द—स्पर्श रूप-रस-गन्धात्मक-विषयों का क्रम से जो ग्रहण-साधन हैं उन्हें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पांच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं।

वचन, आदान, विहरण, विसर्ग (मल-त्याग) आनन्दात्मक क्रियाओं के साधन को क्रम से जिह्वा, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां कहते हैं।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इनकी सूक्ष्मावस्था को पञ्च तन्मात्रा कहते हैं।

आकाश अवकाश देने वाला वायु संजीवन करने वाला अग्नि दाहक और 'पाचक, क्रिया करने वाला है।

सलिल—गीला करना और बहना जल का लक्षण है।

भूमि—धारण करने वाली भूमि कही जाती है।

'यथा न्यग्रोध बीजस्थः शक्ति-रूपो महाद्रुमः।
तथा हृदय बीजस्थंः विश्वमेतच्चराचरम्॥

जैसे—बट-बीज के मध्य में शक्ति-रूप से महा-वृक्ष रहता है। इसी तरह यह चराचर विश्व, उस हृदय (शक्ति) बीज में स्थित है।

इस आम्नाय-नीति अर्थात् परम्परा-प्राप्त-ज्ञान से परा-भट्टारिका रूप-हृदय-बीज में अन्तर्भूत यह जगत् है। जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष रहता है। अब प्रश्न होता है कि 'परा, रूप में 'विश्व, कैसे बीज रूप से है?

इस का उत्तर देते हैं कि जैसे मिट्टी से बने हुये घट शारव (करुआ) आदि पारमार्थिक रूप से मिट्टी ही हैं। और जल आदि द्रव पदार्थों पर जब विचार करते हैं तब 'जल, आदि सामान्य ही उनका रूप व्यवस्थित होता है। इसी तरह पृथ्वी से लेकर माया-तत्त्व पर्यन्त तत्त्वों के सतत्त्व का जब विचार करते हैं तब वे सत् रूप से सिद्ध होते हैं। जब इस 'सतत्त्व, का भी सद् रूप से विचार करते हैं तो धात्वर्थ को प्रकट करने वाले 'प्रत्यय, अंश को हटा देने से 'प्रकृति, मात्र रूप 'सकार, ही शेष रह जाता है। उसी 'प्रकृति, के अन्तर्गत इकतीस ३१ तत्त्व हैं। इसके

ऊपर शुद्ध-विद्या, ईश्वर सदाशिव, ज्ञान, क्रिया, सार-रूप से ऐं क्लीं वाच्य हैं। शक्ति-विशेष होने से औकार रूप स्वीकार करने पर अनुत्तर-शक्ति-मय में अन्तर्गत होते हैं। इससे परे ऊपर नीचे सृष्टि रूप विसर्ग है इस प्रकार सकार औकार और विसर्ग तीनों के मिलने पर हृदय बीज (सौः) होता है।

इस हृदय-बीज (शक्ति-बीज) के महामन्त्रात्मक, विश्व-मय, विश्वोत्तीर्ण, परम-शिव ही उदय और विश्रान्ति के स्थान हैं। यह उनका निज स्वभाव है। इस प्रकार के इस हृदय-बीज को तत्त्वतः जो जानता है वह तद्-रूप हो जाता है। वही परमार्थतः दीक्षित है और वह लौकिक मनुष्यों की तरह प्राणों को धारण करता हुआ भी जीवन्मुक्त है। अतः वह देह-पात होने पर परमशिवभट्टारक-स्वरूप ही हो जाता है॥

इति श्री मन्महामाहेश्वराचार्य वर्य क्षेमराजाचार्य
विरचित पराप्रावेशिका